आयुर्वेद
विभिन्न पहलू

लोकोपयोगी विज्ञान

आयुर्वेद
विभिन्न पहलू

शरदिनी डहाणूकर
उर्मिला थत्ते

चित्रांकन
शेखर भोजराज
अपर्णा देशमुख

अनुवाद
लक्ष्मीनारायण गर्ग

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-2852-2

पहला संस्करण : 1999 *(शक 1921)*

Ayurveda Unravelled *(Hindi)*

रु. 35.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय-सूची

आभार

हम दोनों ही कल्पना-प्रवण चित्रों के लिए डा. शेखर भोजराज और श्रीमती अपर्णा देशमुख के हृदय से ऋणी हैं। श्रीमती वैशाली गोखले एवं कुमारी भारती दोलस ने पांडुलिपि संपादन में जो सहायता की है उसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। हम सेठ जी. एस. मेडिकल कालेज तथा के. ई. एम. अस्पताल के डीन डा. प्रज्ञा पै तथा शल्यचिकित्सा विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, डा. आर. डी. बापट और जी.ई.एस.एस., के. ई. एम. अस्पताल को भी, उनके द्वारा दी गयी सतत प्रेरणा के लिए धन्यवाद देते हैं।

डा. शरदिनी डहाणूकर
मुंबई — डा. उर्मिला थत्ते

प्राक्कथन

मानव प्रकृति की अनूठी कृति है। जड़ और चेतन सभी पदार्थ प्रकृति के विधान का पालन करते हैं। प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करके रहना सीख लेने पर ही उनका अस्तित्व अथवा जीवन निर्भर करता है। कभी, पुनर्जागरण काल के दौरान, प्रकृति को समझने और उस पर विजय प्राप्त करने के प्रयास में मनुष्य में प्रकृति के समग्र प्रभाव से दूर जाने की प्रवृत्ति विकसित हो गयी। तीव्र वैज्ञानिक प्रगति ने पशु, पक्षियों, वृक्षों और फूलों जैसे तथ्यों की उपेक्षा करते हुए हमारा ध्यान उस ओर से हटा दिया। हमारी प्रवृत्ति इस तथ्य की उपेक्षा करने की हो गयी है कि मानव शरीर प्रकृति के सतत परिवर्तनशील समाज के प्रति प्रतिक्रिया करता है, अतः हम कष्ट उठाते हैं। कालजैविकी, ऋतु परिवर्तन, आहार परिवर्तन, पर्यावरणी परिवर्तन तथा उद्योगीकरण के फलस्वरूप परिवर्तित होती जीवनशैली आदि सभी कारकों का इसमें योगदान है।

आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र ने काफी हद तक अपने आपको उपचारात्मक अथवा कार्य-प्रणाली नियमन औषधियों पर संकेंद्रित कर लिया है। निरोधी चिकित्साविज्ञान क्षेत्र में गिने-चुने टीकों, पेय जल की गुणवत्ता में सुधार, स्वास्थ्य और मूलभूत स्वच्छता को छोड़कर अधिक प्रगति नहीं हुई है। इस प्रसंग में, हमारे लिए यह अनिवार्य है कि हम आयुर्वेद की ओर मुखातिब हों। नीरोग कायाविज्ञान के रूप में आयुर्वेद उन विविध कारकों पर विचार करता है जो स्वस्थ रहने में मनुष्य की सहायता करते हैं। आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने जो विश्लेषणात्मक आंकड़े सामने रखे हैं, हो सकता है कि वे आयुर्वेद ग्रंथों में उपलब्ध न हों, किंतु उनमें उपलब्ध, युक्तियुक्त उक्तिपरक संकल्पनाएं हजारों वर्षों से समय की कसौटी पर खरी उतरी हैं। प्राकृतिक रूप से प्राप्त वनस्पति और खनिजों का उपयोग, मानव के उद्भव और अस्तित्व पर धरती के चेतन और अचेतन

घटकों के पारस्परिक हितसाधन के प्रभाव के दर्शन की ओर इंगित करता है।

समय की मांग है इस नीरोग कायाविज्ञान के विभिन्न पहलुओं को देखा-परखा जाये और सिद्धांतों की पुनः पुष्टि की जाये। आधुनिक चिकित्सा विज्ञानियों को चाहिए कि वे आयुर्वेद के विज्ञानसम्मत सिद्धातों की जांच करें, उन्हें सामने लायें और उन्हें सार्वभौम भाषा में प्रस्तुत करें। आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्साविज्ञान एवं अन्य चिकित्सा प्रणालियों के बीच की अदृश्य दीवार को, विशेषकर बीसवीं सदी में, पर्यावरण तथा जीवनशैली में होने वाले परिवर्तन तथा जीवन के तनावों के कारण भी हटाना अनिवार्य हो गया है।

सरल संवाद शैली में लिखी गयी इस पुस्तक में आयुर्वेद के उन विविध पहलुओं का वर्णन किया गया है जिनसे लगभग सभी भारतीय—चाहे अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अथवा दादी, नानी से अर्जित ज्ञान के आधार पर—परिचित हैं। लेखकों ने आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांतों की सरल और बोधगम्य भाषा में व्याख्या की है। इस प्रकार 'दोष' जादुई तौर पर संगठन अर्थात् शरीर की शासन-परिषद् अथवा प्रबंध संवर्ग जितने महत्वपूर्ण हैं तो 'धातुओं' (ऊतकों) का स्थान शासितों अथवा आम व्यक्तियों जैसा है और 'मल' मानो उनका उत्पाद है। मानव शरीर भी सरकार के लोकतंत्र के स्वरूप को पसंद करता है। लेखकों ने ऐसी ही उपमाओं की सहायता से, व्यक्तिगत घटकों के बीच विद्यमान जटिल और पेचीदा संबंधों को खूबसूरती से समझाया है। उन्होंने 'सामंजस्य ही स्वास्थ्य है' जैसी लोकोक्ति पर बल दिया है।

अत्यंत पठनीय इस पुस्तक का सर्वाधिक रोचक अंश वह है जिसके माध्यम से आप अपनी शरीर-संरचना के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और ऐसा होने के पश्चात दूसरे अध्यायों से आपको ऋतुओं के अनुरूप अपनी जीवनशैली अथवा/एवं आहार का चयन करने और स्वस्थ रहने में मदद मिलेगी।

पुस्तक में यह बताने का भी प्रयास किया गया है कि विभिन्न वनस्पतियों का उपयोग करते हुए 'घरेलू-उपचार पेटी' (होम रेमेडीज़ किट) कैसे बनाएं। हालांकि संक्षेप में, किंतु आयुर्वेद के कतिपय अन्यस्थानिक पहलुओं, जैसे 'पंचकर्म' तथा आयुर्वेदिक औषधियों के अनुसार परिवर्तनीय सामान्य रोगों का भी उल्लेख किया है।

इस तरह की एक पुस्तक अनिवार्य थी। आयुर्वेद एक परंपरा है जो हमें विरासत में मिली है और इसके विज्ञानपरक विमर्शों में निहित तर्कों के संबंध में व्यापक स्तर पर जागरूकता लाना आवश्यक है। आयुर्वेद को वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति मानकर चिकित्साविज्ञान के क्षेत्र में इसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए,

बल्कि परंपरागत चिकित्सा पद्धति के साथ समाहित किया जाना चाहिए ताकि एक नूतन तथा सबको अपने में समाहित किए हुए एक भारतीय संघटित चिकित्सा प्रणाली विकसित हो सके। निश्चय ही यह पुस्तक घोर अविश्वासी लोगों की जिज्ञासा को भी शांत करेगी।

के. ई. एम. अस्पताल, मुंबई *(प्रो.) आर. डी. बापट*
1 सितंबर, 1995

1
भूमिका

तो यात्रा प्रारंभ होती है···

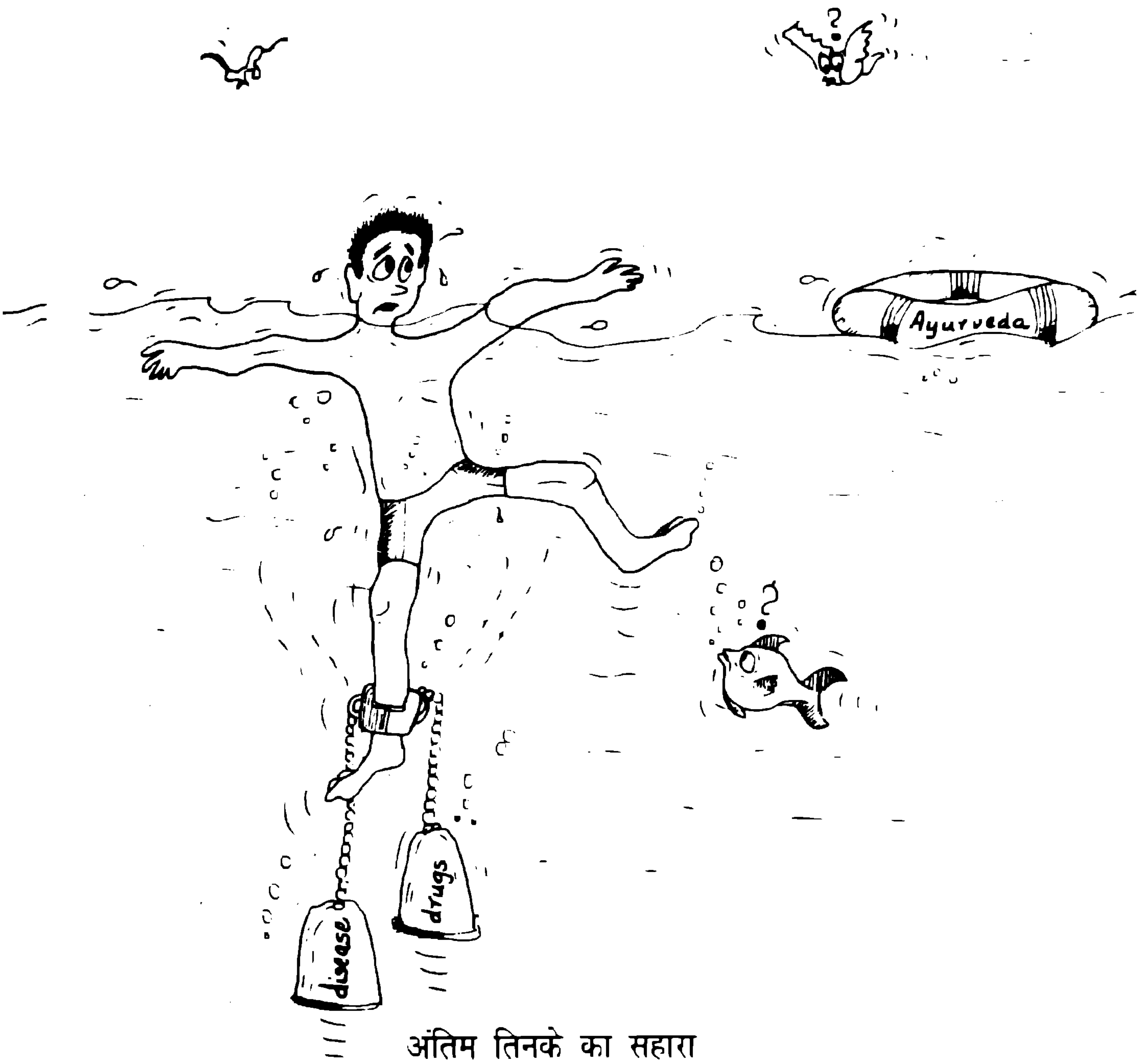
"मेरे मित्र की मां गुर्दे के कैंसर से पीड़ित हैं। वस्तुतः यह उनके रोग की पुनरावृत्ति है। लगभग तीन वर्ष पहले उनका आपरेशन हुआ था और ट्यूमर सहित उनका गुर्दा निकाल दिया गया था। चार महीने पहले खांसी और पीठ दर्द शुरू होने तक वह ठीक थीं। छाती के एक्स-रे और अस्थि-स्कैन ने अंतिम झटका दिया। शरीर के व्यापक हिस्से में रोग-व्याप्ति के कारण उन्हें अधिक से अधिक केवल चार महीने का समय दिया गया है। मुझे बताइए, क्या ऐसे में आयुर्वेद कुछ कर सकता है ? हम किसके पास जा सकते हैं ?"

जब सब कुछ असफल सिद्ध होता है और जीवन के छोर पर अंधकार ही नजर आता है तब रोगी अथवा उसके संबंधी इस चिकित्सा विज्ञान (आयुर्वेद) से इस प्रकार चिपकते हैं मानो यही उनका अंतिम सहारा हो। केवल कैंसर ही ऐसा रोग नहीं है जो रोगियों को वैद्यों (आयुर्वेदिक चिकित्सक) तक पहुंचने के लिए बाध्य करता है; इन आयुर्वेदिक चिकित्सकों के क्लीनिकों के बाहर श्वसनी (ब्रोंकियल) दमा से सोरिएसिस और पीलिया से लेकर मिर्गी तक के रोगियों की भीड़ देखी जा सकती है।

ऐहिक जगत में हम सब अपने रोजमर्रा के जीवन में आयुर्वेद के सिद्धांत अपनाते हैं। जब हम आहार में दही की जगह छाछ के उपयोग का सुझाव देते हैं या बवासीर के रोगियों को अपने आहार में जिमीकंद शामिल करने की सलाह देते हैं अथवा नयी जच्चा में दुग्धस्रवण की वृद्धि के लिए 'अहलिव' से बने लड्डू देते हैं तो हम उन्हीं बातों पर अमल करते हैं जो आयुर्वेद में बताई गयी हैं।

आयुर्वेद अधिकतर भारतीयों की घुट्टी में शामिल है—हम इसी चिकित्सा

प्रणाली के साथ बड़े होते हैं। व्यक्तिगत अनुभव हममें से बहुतों को आयुर्वेद का परम समर्थक बनाता है और दादी, नानी की गठरी में लिखे रखे कुछ नुस्खे तो चमत्कारिक प्रतीत होते हैं। तथापि बहुत सी शंकाएं भी हैं—वैज्ञानिक ढंग



अंतिम तिनके का सहारा

की सोच वालों के मन में, 'कैसे', 'कब', 'क्यों' जैसे प्रश्न घुमड़ते हैं। और चूंकि स्वीकार्य उत्तरों का अभाव या कमी है, अतः ऐसी चिकित्सा प्रणाली जो वास्तव में तर्क और प्रेक्षण में श्रेष्ठ रूप से व्यवहारीय है उसे लोक चिकित्सा का दर्जा दे दिया जाता है।

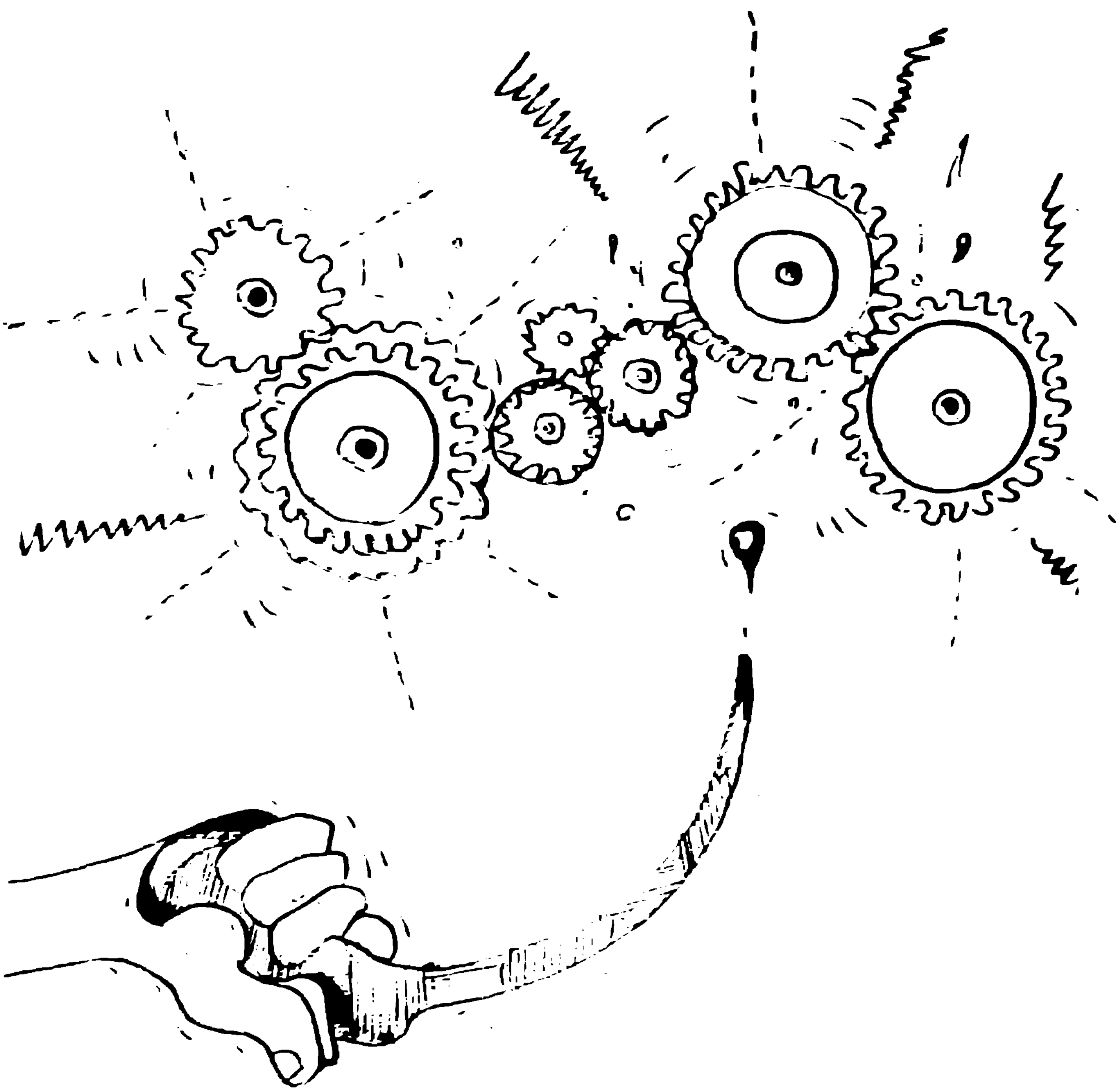
आयुर्वेद समय की कसौटी पर खरा सिद्ध हुआ है। इस चिकित्सा विज्ञान ने अपनी सचाई पर हुए आक्रमणों पर विजय प्राप्त की है और राजनीतिक झंझावातों से बचते हुए देश में फला-फूला है। आयुर्वेद दुनिया की प्राचीनतम चिकित्सा प्रणालियों में से एक है—यह 'अथर्ववेद' का विस्तार है; यह विज्ञान, कला और दर्शन का मिश्रण है। 'आयुर्वेद' नाम का अर्थ है, 'जीवन का ज्ञान'—और यही

संक्षेप में आयुर्वेद का सार है। यह चिकित्सा प्रणाली केवल रोगोपचार के नुस्खे ही उपलब्ध नहीं करती, बल्कि रोगों की रोकथाम के उपायों के विषय में भी विस्तार से चर्चा करती है। यह बात सुधी पाठकों को घिसी-पिटी लग सकती है किंतु वास्तविकता यह है कि इसके श्लोक इतने स्पष्ट, विदग्ध किंतु संक्षिप्त हैं कि किसी के भी आत्मसंतोष को झकझोर कर रख दें।

ऐसी मान्यता है कि आरंभिक यूनानी और अरबी चिकित्सा प्रणालियों ने कुछ विचार आयुर्वेद से लेकर आत्मसात किए। आयुर्वेद के इन विचारों से आरंभिक पाश्चात्य चिकित्साप्रणाली भी प्रभावित हुई थी क्योंकि प्रगण्डिका (विषाद, भावयून्यता और पित्त अथवा यकृतजन्य रोग) की संकल्पनाएं तत्कालीन लेखों में वर्णित हैं। विभिन्न कारणों से नीरोग शरीर विज्ञान संबंधी उपागम का स्थान रोग को कम करने के प्रयास ने ले लिया और इससे संस्थापित पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का जन्म हुआ। भारत में, एक के बाद एक, मुगलों और अंग्रेजों के आक्रमणों से आयुर्वेद को पृष्ठभूमि में डाल दिया गया। जैसे-जैसे उद्योगीकरण और शहरीकरण में वृद्धि हुई और भौतिक सुख हमारे जीवन पर हावी होते गए, हम आयुर्वेद के सिद्धांतों से (जो मूलतः प्रकृति के अनुकूल और सख्त अनुशासन से युक्त थे) विमुख हो गए। इस प्रकार रोगी की ओर उन्मुख नीरोग शरीर विज्ञान का स्थान, रोग-निदान आधारित रोगोन्मुखी अनुशीलन ने ले लिया।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखकर शिक्षा ग्रहण करते समय ऐसा महसूस होता है कि अब समय आ गया है कि हम आयुर्वेद की कतिपय शिक्षा को पुनः अपनाएं और पश्चिम का अंधानुसरण न करें। संभवतः अनुभव ही विश्व में उत्तम शिक्षक है। देखना ही विश्वास का आधार है या नहीं ? जब हम अपने चारों ओर देखते हैं तो हमें अनेक ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं कि पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान अनेक समस्याओं का हल ढूंढ़ने में असमर्थ और असफल सिद्ध हुआ है। ऐसी स्थिति में हमारे मन में पूर्ण आदर्श स्वास्थ्य परिचर्या प्रणाली के प्रति संदेह उत्पन्न होने लगते हैं। भोजन में घी के उपयोग के बारे में भ्रामक धारणाएं इसका उदहारण हैं : क्या आपको कोई ऐसा दिन याद है कि जब आपके दादाजी की रोटी पर घी (जिसे पश्चिम के लोग 'क्लैरिफाइड बटर' कहते हैं) न लगा हो ? हमें बताया जाता है कि घी अच्छे स्वास्थ्य के लिए अभिशाप है जबकि आपके दादाजी संभवतः 80 या 90 वर्ष तक स्वस्थ रहकर जीवित रहे ! और आज की पीढ़ी उन विदेशी जीवन दर्शनों के सहारे जी रही है जो उनके लिए उतने ही विदेशी हैं जितनी कि वह संस्कृति जिससे वे प्रादुर्भूत हुए है। और यह पीढ़ी यदि मृत्यु नहीं तो भी अकाल रुग्णता को जन्म देने वाले कौलेस्ट्राल से संबंधित रोगों से ग्रस्त है—वह

भी यदाकदा ऐसी गरमा-गरम घी से चुपड़ी रोटी खाए बिना ही, जिसे देखकर मुंह में पानी आ जाये ! वस्तुतः आयुर्वेद हमें बताता है कि मक्खन से घी बेहतर है क्योंकि परिवर्तन की प्रक्रिया में इसके गुण परिवर्तित होते हैं। जब मक्खन को गरम करके छाना जाता है तब उससे प्राप्त पदार्थ (घी) न केवल हानिरहित होता है बल्कि समुचित विधि से उपयोग करने पर लाभदायक होता है। वास्तव में, घी अनेक औषधियों के लिए माध्यम है। यह आश्चर्य की बात है कि आयुर्वेद में घी को रक्त-वाहिकाओं के लिए स्नेहक बताया गया है और ऐलोपैथी की मान्यता के सर्वथा विपरीत, जरावस्था आने में विलंब का कारण बताया गया है ! हमारी विरासत का सर्वाधिक रोचक पहलू यह है कि हमने विश्व को आयुर्वेद से समृद्ध किया है। और हम हैं कि इसका लाभ उठाने की बजाय उपचार की तलाश में पश्चिम का मुंह देखते हैं। हालांकि हमारा ध्येय ऐलोपैथी को नीचा दिखाना नहीं



घी (वसा) रक्त वाहिकाओं को स्नेहकता प्रदान करता है।

हैं, फिर भी आयुर्वेद के कुछ सिद्धांतों का अध्ययन करना, उन्हें प्रमाणित करना और अपनाना लाभप्रद है। आखिर, हमारी शरीर-रचना, कालक्रम औषध विज्ञान और व्यक्तिपरक रोगोपचार की संकल्पनाएं, जो आयुर्वेदिक चिकित्साविज्ञान की रीढ़ हैं, उन्हें आज आधुनिक चिकित्साविज्ञान के क्षेत्र में लागू किया जा रहा है। क्या थोड़ा रुककर इस विषय पर चिंतन करना आवश्यक नहीं है ?

इस पुस्तक में आम आदमी को यह समझाने का प्रयास किया गया है कि आयुर्वेद 'लोक चिकित्सा प्रणाली' नहीं है और न ही ऐसी चिकित्सा प्रणाली है जिसे सब ओर से असफल होने के बाद अपनाया जाये। यह तो अच्छे स्वास्थ्य हेतु एक जीवनशैली है।

अब हम आयुर्वेद के रहस्यों का अन्वेषण करेंगे और उन सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे जिन पर यह विज्ञान आधारित है। हम उन उपायों की खोज करेंगे जिनके माध्यम से हम अपने दैनिक जीवन में आयुर्वेद का समावेश कर सकते हैं। वह भी अपनी मूल जीवनशैली में परिवर्तन किए बिना ताकि हम निरपेक्ष स्वास्थ्य के साथ जीवन जी सकें। आखिर चिकित्साविज्ञान की प्रत्येक पद्धति इसी बात को तो बढ़ावा देती है कि, 'उपचार से रोकथाम बेहतर है।' आयुर्वेद बीमारी की रोकथाम करके स्वस्थ जीवन जीने में हमारी सहायता कर सकता है। इस पुस्तक में, सरल शब्दों में आप यही पढ़ेंगे कि यह कैसे संभव है ?

हम रोमानी पुनर्जागरणवाद को बढ़ावा देना नहीं चाहते और न ही किसी को अपनी राय बदलने के लिए विवश करना चाहते हैं। हम केवल आयुर्वेद के विभिन्न ग्रंथों में उपलब्ध तथ्यों को प्रस्तुत करना चाहते हैं। आशा है कि हमारे साथ यात्रा के दौरान, ये तथ्य आपको अपने शरीर के रहस्यों को खोजने में सहायता करेंगे।

2

विहंगम-दृष्टि

सत्त्वमात्मा शरीरं च भयमेतत्भिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

—चरक सू. अ. 7/46

चरक कहते हैं, "मन, आत्मा और शरीर ऐसे तीन स्तंभ हैं जिन पर न केवल मानव जाति का बल्कि विश्व का अस्तित्व टिका हुआ है।"

आयुर्वेद जीवन का ज्ञान है जो बताता है कि स्वस्थ जीवन कैसे जिएं। इस विषय में चर्चा करने से पूर्व हम 'रोग-मुक्त' और 'स्वस्थ' के अंतर को समझ लें। 'स्वस्थ' का विलोम है 'अस्वस्थ' और 'अस्वस्थ', 'रोग ग्रस्त' का समरूप नहीं है। क्या कभी-कभी ऐसा नहीं होता कि आप अनियमित नींद सोकर सुबह उठे हैं और अस्वस्थ महसूस कर रहे हैं ? आपकी आंखों के नीचे सूजन है और उनकी चमक नदारद है। आपको पूरी तरह मलत्याग न होने का अहसास हो रहा है। सारा दिन आप कुछ अनिश्चित सा दर्द महसूस करते हैं, बच्चों पर जरूरत से ज्यादा चिल्लाते हैं, बेवजह बहस करते हैं और कुल मिलाकर अप्रसन्न रहते हैं। ऐसे लक्षणों को आज की चिकित्सा प्रणाली में, किसी भी ज्ञात रोग के संलक्षणों में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। इसके बावजूद इतना तय है कि आप ठीक नहीं हैं और आपकी स्थिति 'सकारात्मक' स्वास्थ्य की नहीं है।

जब रोगी ऐसी शिकायतें लेकर आते हैं तो ऐलोपैथिक डाक्टरों के पास देने के लिए क्या होता है ? विगत में, इसके लिए कुछ विटामिन और टॉनिक होते थे जबकि आज की प्रवृत्ति तनाव-शमन की लोकप्रिय औषधियां हैं। क्या आपको मालूम है कि 'आवश्यकतानुरूप निर्मित' हमारे अपने स्वदेशी चिकित्सा विज्ञान

आयुर्वेद में ऐसे अनेक नुस्खे हैं जो हमें अस्वस्थ होने से बचाने के लिए हैं ?

आयुर्वेद में 'स्वास्थ्य' को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :

"समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

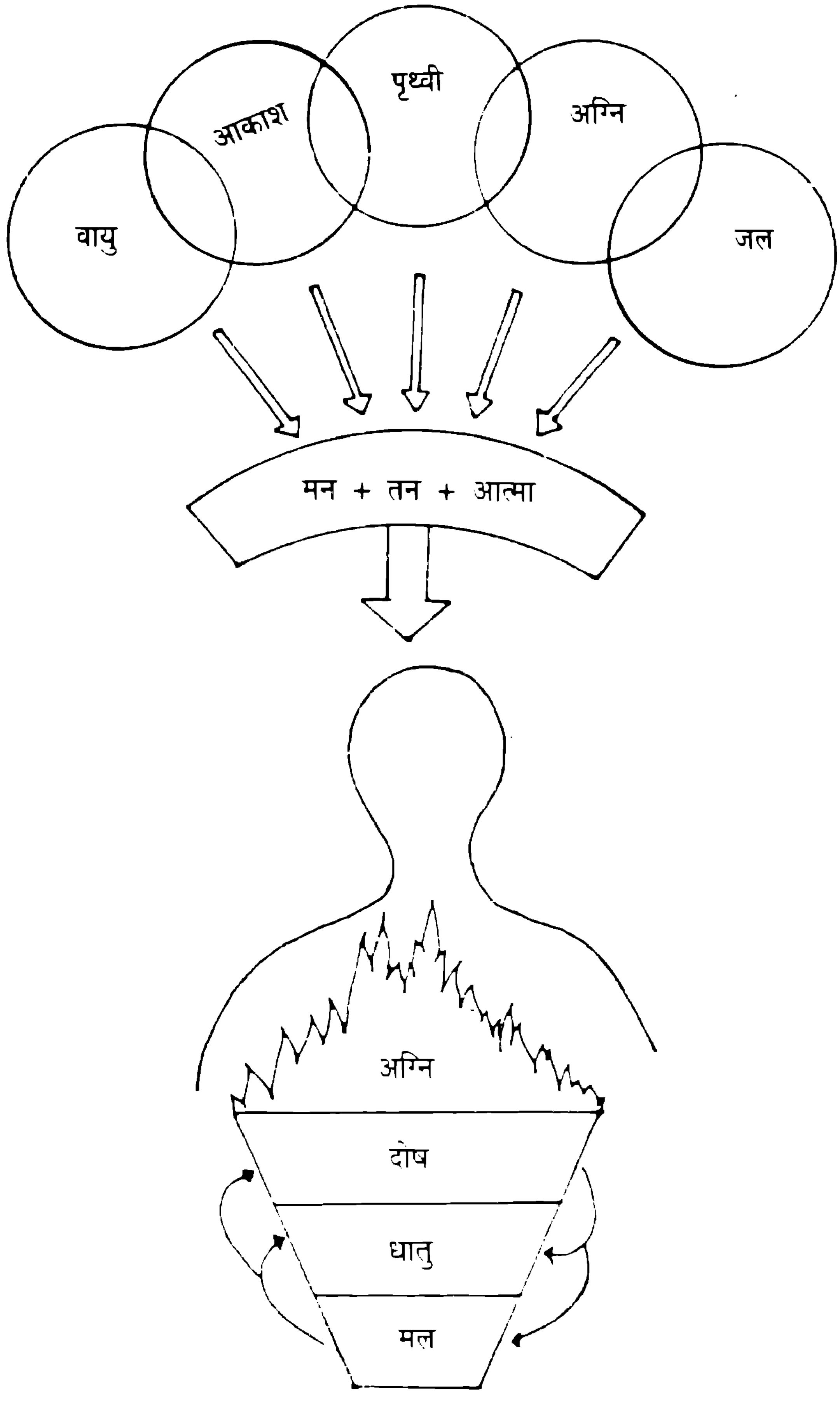
—सुश्रुत सू. अ. 75/41

सुश्रुत संहिता के इस श्लोक में कहा गया है : "संतुलित दोष (प्रगण्डिका), स्वस्थ अग्नि, ऊतकों की अच्छी अवस्था और इनके चयापचयी अंतिमोत्पाद, संतुलित इंद्रियों, मन और आत्मा की संतुलित अवस्था के रूप में प्रतिफलित होते हैं जिनसे अंततः स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है।"

ऐसी मान्यता है कि यह सब तन, मन और आत्मन् पर आश्रित है। स्वस्थ होने के लिए न केवल तन बल्कि मन को भी फिट रखने की आवश्यकता होती है। इसीलिए आज 'पर्यावरण के प्रति मैत्रीभाव' का फैशनयुक्त विषय चर्चा में है। इस प्रकार यहां उन उपायों का वर्णन किया गया है जो हमें प्रकृति के साथ लगातार सामंजस्य स्थापित करके स्वस्थ जीवन जीने में सहायक सिद्ध होते हैं।

आयुर्वेद को प्रायः गलती से केवल जड़ी-बूटियों से संबद्ध करके देखा जाता है। वस्तुतः आयुर्वेद का विषय अत्यंत विशाल है जिसमें अन्य बातों के अलावा, योग और पंचकर्म भी शामिल हैं। आहार और पाचन इसके केंद्रबिंदु हैं जिन पर आयुर्वेद के अधिकतर सिद्धांत—शरीर क्रिया विज्ञान (सामान्य स्थिति) एवं रोग विज्ञान (रोग) दोनों ही आधारित हैं। आयुर्वेद का मूल दर्शन पंचमहाभूत (पंच-तत्व) सिद्धांत पर आधारित है। इस सिद्धांत से नियंत्रण शक्तियों अथवा दोषों की संकल्पना उत्पन्ना हुई है जो विभिन्न चयापचयी उत्पादों अर्थात् 'मल' को उत्पन्न करने वाले ऊतकों पर प्रभाव डालती है। इन सभी के गुण इस बात पर निर्भर करते हैं कि हम कब खाते हैं और क्या खाते हैं, हम कैसे रहते हैं, कैसे पर्यावरण में रहते हैं और हमारी मानसिक दशा कैसी है। इनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन बीमार तो नहीं पर 'अस्वस्थ' अवश्य कर सकता है। यदि इसी का और विस्तार हो, अर्थात् हम लंबे समय तक अस्वस्थ रहें तो हमारे ऊतकों (धातु) की शक्ति का ह्रास हो सकता है और वे बाह्य आक्रमण के प्रति संवेदी बन सकते हैं और इस तरह हमें रुग्ण बना सकते हैं।

आयुर्वेद की एक महत्वपूर्ण संकल्पना यह है कि आनुवंशिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति भिन्न है—इसी से उसकी प्रकृति विशेष होती है और पर्यावरण के साथ



आयुर्वेद का दर्शन।

अन्तःक्रिया का भी उसका निजी ढंग है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति यह भलीभांति जानता है कि उसके शरीर को क्या माफिक आता है और क्या नहीं। यह सच है कि किसी व्यक्ति पर बदलते जलवायु का प्रभाव न हो किंतु बूढ़ी सास का शरीर हल्की सी भी ठंडी हवा चलने पर संधिवात से अकड़ सकता है। आयुर्वेद जीवन जीने की ऐसी निर्धारित विधि

बताता है जिसकी परिधि में हम अपने शरीरिक कार्यों को श्रेष्ठतम रूप प्रदान करने के लिए अपनी जीवनशैली को परिष्कृत कर सकते हैं, जिसे हम ऋतुचर्या एवं दिनचर्या कहते हैं।

यदि किसी कारणवश रुग्णता घेर लेती है तो उसके लिए आयुर्वेद में जड़ी-बूटियों, खनिजों तथा पंचकर्म जैसी चिकित्सीय विधियों की व्यवस्था है। वृद्ध कोई नहीं होना चाहता किंतु यह जीवन का विधान है। आयुर्वेद हमें सिखाता है कि हम बूढ़े भी हों तो गरिमा और शालीनता के साथ इस अवस्था में कैसे पहुंचें। इसमें उल्लिखित रसायन चिकित्सा स्वयं जीवन के रहस्यों का मोहक वर्णन है।

आयुर्वेद शारीरिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए मानसिक स्वास्थ्य की भूमिका पर जोर देता है। आज हम इस बात से सहमत हैं कि मन और शरीर के बीच एक निश्चित संबंध है। नवोदित मनोतंत्रिका-प्रतिरक्षाविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में हम आयुर्वेद के प्राचीन श्लोकों की पुनर्व्याख्या कर सकते हैं और चिकित्सा विज्ञान में नये ज्ञान का योगदान कर सकते हैं।

अतीत का मूल्यांकन करके किसी विषय के प्रति सोच और समझ में वृद्धि की जा सकती है। अतः हम संक्षेप में आयुर्वेद के इतिहास पर एक सरसरी नजर डाल लें जो हमें इसके रोचक अध्ययन के लिए प्रेरित करता है। कहानी इस प्रकार है कि भगवान इंद्र ने आयुर्वेद की शिक्षा ऋषि भारद्वाज को दी। मनीषीगण रोग और कुस्वास्थ्य जनित मानवीय कष्टों के उपशमनार्थ विचार करने के लिए हिमालय की हिमाच्छादित ढलानों पर एकत्रित हुए थे। ऋषि भारद्वाज को मानवजाति का प्रतिनिधि चुना गया और वे ईश-शरण में गए। मनुष्य की सीमित प्रतिभा से अवगत, इंद्र ने आठ शाखाओं में विभाजित करके उन्हें आयुर्वेद के सिद्धांतों की शिक्षा दी। ये आठ शाखाएं निम्न प्रकार हैं :—

कायाचिकित्सा	=	आंतरिक चिकित्सा
बालरोग चिकित्सा	=	बाल चिकित्सा एवं स्त्री रोगविज्ञान
शल्य चिकित्सा	=	शल्यविज्ञान
शलक्य चिकित्सा	=	कान, नाक और गले की शल्य चिकित्सा
अगदतंत्र	=	विषविज्ञान
रसायन चिकित्सा	=	कायाकल्प
वाजीकरण चिकित्सा	=	यौन-प्रकार्य अध्ययन एवं प्रजनन
मानसरोग चिकित्सा	=	मनोचिकित्सा विज्ञान

हम इस ओर ध्यान दें कि प्राचीन काल में भी बाल-चिकित्सा प्रणाली और जरा-जन्य चिकित्सा प्रणाली कितनी अच्छी तरह विकसित थी। जहां तक आधुनिक चिकित्साविज्ञान की बात है यह कदाचित् विडंबना ही है कि जरा-जन्य चिकित्सा-विज्ञान अभी भी अपनी शैशवावस्था में है। आयुर्वेद की उल्लिखित शाखाओं में से प्रत्येक में रोगों की रोकथाम पर जोर दिया गया था हालांकि उसमें निदान और रोगोपचार की भी व्यवस्था थी।

गुरु-शिष्य परंपरा के अनुसार आयुर्वेद का ज्ञान अति प्राथमिक रूप में तथा मानक संदर्भ ग्रंथों चरक एवं सुश्रुत संहिताओं के रूप में प्रचारित एवं परिष्कृत हुआ तथा पारदर्शी बना। पूरक विज्ञानों में हुई प्रगति के साथ इनका और विस्तार हुआ तथा वाग्भट्ट की अष्टांग हृदय, तथा शारंगधर संहिता आदि जैसे ग्रंथों का जन्म हुआ। उत्तर टीकाओं में, पारद, सीसा, संखिया आदि जैसी विभिन्न धातुओं की चिकित्सीय उपयोगिता का वर्णन किया गया। विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक कारणों से चौदहवीं शताब्दी में किसी समय आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली का विकास रुक गया और यह एक वैकल्पिक चिकित्सा प्रणाली का रूप लेकर रह गयी। मुगलों और अंग्रेजों के एक के बाद एक आक्रमणों के कारण इस चिकित्सा प्रणाली के वैज्ञानिक उत्साह का दमन हो गया। यह बची रही तो सिर्फ इसलिए कि यह आम आदमी के जीवन का हिस्सा थी, उसका जिंदगी जीने का तरीका इन्हीं नियमों द्वारा संचालित होता था। तथापि यह चिकित्सा प्रणाली फली-फूली नहीं, उलटे उपेक्षित होकर पृष्ठभूमि में जा गिरी।

आयुर्वेद के प्रति ऐसे दृष्टिकोण का एक दूसरा प्रमुख कारण वह भाषा थी जिसमें यह लिखा गया। संस्कृत, यद्यपि बहुत ही सशक्त भाषा है तथापि आज बहुत ही कम लोग इसे समझते हैं। चूंकि आयुर्वेद संस्कृत में लिखा गया है, अतः इसमें उपलब्ध काफी जानकारी का मानक आयुर्वेद ग्रंथों के गूढ़ श्लोकों में निहित है। चरक संहिता की तुलना बंद की हुई कम्प्यूटर फाइल से की जा सकती है। यदि इस संहिता का अनुवाद करके इसकी व्याख्या की जाए तो यह तथ्य विषयक 'स्मृति' अथवा बहुत अधिक स्थान घेरने वाली खुली हुई फाइल का रूप ले लेगी। संस्कृत भाषा की प्रकृति के कारण इसके श्लोकों में विभिन्नार्थों की गुंजाइश है। उदाहरण के लिए 'रस' शब्द के प्रसंगानुरूप तेरह अर्थ हैं। रस के अर्थ हैं सार, शर्बत, शारीरिक तरल, आरंभिक ऊतक आदि। इसी कारण जिस प्रकार श्लोकों की व्याख्या की गयी और उन्हें पढ़ाया गया, उसी प्रकार पृथक्-पृथक् ढंग से आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली व्यवहार में लाई गयी। आगे चलकर व्यापक स्तर पर समझी जाने वाली देशी भाषाओं में हुए अनुवादों से और अधिक भ्रांतियां

उत्पन्न हो गयीं। आज आयुर्वेद का सार और तत्व जीवन की लय के साथ तालमेल खो बैठा है। समाज का ढांचा परिवर्तित हो गया है और इसी के साथ ही लोगों की खान-पान की आदतों और दिनचर्या में भी परिवर्तन आ गया है। इस प्रकार आयुर्वेद उपचार प्रणाली कालदोष का शिकार हो गयी है और प्रायः अस्वीकार्य भी। पीने की दवाओं और शीघ्र काम करने वाले इंजेक्शनों के इस तेज रफ्तार युग में, आयुर्वेद के सौम्य काढ़े और मंद गति से काम करने वाली घुट्टी बोझिल और पूर्णतः अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

आज हम देख रहे हैं कि कम से कम कुछ क्षेत्रों में कदाचित् नया चोला धारण करके आयुर्वेद, चाहे धीमे-धीमे ही सही बहुत कुछ सिने जगत के भूले-बिसरे सुपर स्टार की तरह वापस अपना स्थान पाने का लगातार प्रयास कर रहा है। तड़क-भड़क युक्त अपने संबंधी से वर्षों तक पीछे रहने के बाद अब आयुर्वेद आम आदमी के साथ-साथ चिकित्सा-व्यवसाय में संलग्न लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। अब लोग आयुर्वेद की ओर केवल उपचार के लिए ही नहीं बल्कि शोध के लिए मार्गदर्शन देने के लिए भी तत्पर हैं। अब इस दिशा में हवा का रुख काफी तेज हो गया है परंतु आवश्यकता है सावधानी बरतने की। आयुर्वेद में अंधविश्वास रखना इसका समाधान नहीं है। ऐलोपैथी के अपने फायदे हैं और उसके प्रबल साक्ष्य हैं। यह आम धारणा कि ऐलोपैथी औषधियां केवल प्रतिकूल असर दिखाती हैं, बिल्कुल असत्य है। ये औषधियां शक्तिशाली और असरदायी हैं। इसमें संदेह नहीं है कि शक्ति का विस्तार हानिकारक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। किंतु जैसाकि मनुष्य द्वारा किए जाने वाले अधिकतर उद्यमों में होता है, लाभों की तराजू के दूसरे पलड़े में खतरों को तोल ना चाहिए।

दूसरी ओर, हमें आयुर्वेदिक औषधियों के विषय में भी यह आम टिप्पणी सुनने को मिलती है : "ये औषधियां असर न भी करें तो भी ये हानिकारक तो निश्चय ही नहीं हैं।" क्या ऐसा है ? यह किसी भी तर्कसंगत बात के प्रतिकूल है। यदि कोई औषधि प्रभाव दिखा सकती है तो निश्चय ही वह प्रतिकूल प्रभाव भी डाल सकती है। और मात्र इसलिए कि वह लाभ नहीं करती इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उससे हानि नहीं होगी। आख़िर कोई भी विष लाभदायक नहीं होता। वह निश्चय ही घातक सिद्ध हो सकता है। मोहक और आकर्षक देखना छोड़ हमें विवेकपूर्ण ढंग की सोच रखनी चाहिए और आयुर्वेद के विषय में चर्चा करते समय मन-मस्तिष्क को खुला रखना चाहिए।

क्या हम आयुर्वेद के दर्शन को उपयोग करते हुए स्वस्थ जीवन जीने के

सूत्र विकसित कर सकते हैं ? क्या रोगों के निवारण हेतु हम जीवनशैली को निजी बना सकते हैं ? क्या हम जीने की कला में निपुण हो सकते हैं ? हम आगामी अध्यायों में विस्तार से बताई गयी इन्हीं सब संकल्पनाओं पर विचार करेंगे।

3

शासक अर्थात् दोष

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने मानव रचना में एक ऐसी शासन प्रणाली विकसित की है जिसमें खुले तौर पर किसी प्रकार की हानि की गुंजाइश नहीं है। प्रणाली में शासक और शासित दोनों ही परस्पर पूर्ण धैर्य और समचित्तता की प्रवृत्ति अपनाते परिलक्षित होते हैं। यहां असंतोष अथवा अशांति (सामान्य परिस्थितियों में) के लिए कोई स्थान नहीं है। शासन की यह प्रणाली कैसी है ? हम इससे क्या सीख सकते हैं ?

समूचा आयुर्वेद विज्ञान 'पंचमहाभूत' (अथवा पांच महान तत्वों) सिद्धांत पर आधारित है। इस प्रकार ऊतकों और अंगों से लेकर आहार और 'दोषों' तक सभी पदार्थ इसी सिद्धांत की नींव पर निर्मित हैं। ये पंच तत्व हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि अथवा तेज, वायु और आकाश। ब्रह्मांड के सभी पदार्थ इन्हीं से निर्मित हैं। पृथ्वी ठोस अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है तो जल तरलावस्था का, वायु गैसीय अवस्था का, तो अग्नि रूपांतरण शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। और ईथर जो संपूर्ण पदार्थों तथा आकाश का स्रोत है इसमें इसका स्वयं का अस्तित्व भी है।

आयुर्वेद विज्ञान ने मानव शरीर के संगठनात्मक विन्यास को तीन आधारभूत संघटकों में समझाया है : 'दोष', 'धातु' और 'मल'। इन्हें भी पांच तत्वों से निर्मित माना जाता है। ये परस्पर जटिल ढंग से संयोजित रहते हैं तथा बाह्य पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। 'दोष-धातु-मल' रूपी तीन अश्वों की गाड़ी अग्नि (शाब्दिक अर्थ में जीवन की आग) के साथ मिलकर मानव जीव के आधार स्तंभों का निर्माण करती है। इस संगठन का चौथा संघटक, जिसे रोग होने पर विचार करते समय प्रायः गलती से भुला दिया जाता है वह है 'मन'–जो आयुर्वेद के अनुसार परम महत्व का संघटक है। आयुर्वेद मानव संरचना के भाग के रूप में मन और आत्मन् को भी शामिल करता है क्योंकि इनके विषय में भी उसका मानना है कि इनमें

भी शरीर के अन्य घटकों के समान गुण हैं। (अच्छी प्रबंध प्रणाली की संकल्पना के प्रति निष्ठा रखते हुए आयुर्वेद, सभी संघटकों के समुचित संतुलन के साथ 'दोष-धातु-मल' की 'त्रयी' में परस्पर सामंजस्य पर बल देता है। इस व्यवस्था में किसी भी बाह्य अथवा आंतरिक कारणों से विसंगति उत्पन्न होना चिंता का कारण होता है।)

(शरीर की संरचना में 'दोष' कार्यपालक की भूमिका निभाते हैं। वे ऊतकों (धातुओं) के कार्यों को और इसलिए चयापचयी अवसानोत्पाद (मल) को भी प्रभावित करते हैं। त्रिदोष ऐसे केंद्रबिंदु हैं जिनके चारों ओर आयुर्वेद का ताना-बाना बुना हुआ है। अब हम यह देखेंगे कि शरीर रूपी संगठन के ये बॉस (अधिकारी) किस प्रकार कार्य करते हैं ताकि हम यह समझ सकें कि आयुर्वेद के अनुसार हमारा शरीर किस प्रकार संचालित होता है।)

दोष

दोष शब्द की उत्पत्ति 'दुस' धातु से हुई है। यह धातु उच्चारण की दृष्टि से अंग्रेजी उपसर्ग 'डिस' (डिसफंक्शन, डिसमैनोरिया शब्दों में) से समानता रखती है। यदि सीधे अनुवाद करें तो दोष शब्द का अर्थ होगा खराबी, दाग या ब्रह्मांडीय समरसता के विरुद्ध अतिचार या फिर कहें ऐसी अशुद्धता जो अव्यवस्था और अराजकता को जन्म देती है। तथापि, आयुर्वेदिक दर्शन के प्रसंग में 'दोष' अपने आप में हानिप्रद नही हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें 'दोष' की संज्ञा इसलिए दी गयी है क्योंकि ये कुछ परिस्थितियों में अव्यवस्था अथवा रोग का कारण बन सकते हैं। इनकी तुलना किसी कंपनी के उच्चतम प्रवध-संवर्ग अर्थात् मानव से की जा सकती है। किसी कंपनी के लोकतांत्रिक सिद्धांतों के अनुरूप ये उन्हीं ऊतकों से निर्मित होते हैं जिन पर ये शासन करते हैं और बदले में उन्हें प्रभावित करते हैं। 'दोष-धातु-मल' रूपी तीन अश्वों के बीच यही पेचीदा संबंध है जिससे आयुर्वेदिक शरीरक्रियाविज्ञान, रोगविज्ञान और चिकित्साविज्ञान के सिद्धातों की नींव का निर्माण होता है।

शरीर में तीन 'दोष' होते हैं : वात, पित्त और कफ ! ये शब्द किसी भी भारतीय के लिए परिचित शब्द हैं क्योंकि ये उसकी शब्दावली का अभिन्न अंग बन चुके हैं। किंतू ये तत्व हैं क्या ? क्या कायिक तौर पर इन तत्वों को पहचाना जा सकता है ? क्या ये अदृश्य अथवा परोक्ष शक्तियां हैं ? क्या ये दैवी नियंत्रण हैं ? क्या हम प्रयोगशाला में इनका अध्ययन नहीं कर सकते ? हालांकि इन प्रश्नों के कोई ठोस उत्तर नहीं हैं तथापि आयुर्वेदिक दर्शन के परिज्ञान हेतु पर्याप्त आधार

हैं क्योंकि हम बहुत कुछ करते हैं और उसका अनुभव भी करते हैं।

उदाहरण के लिए, जब वायु हमारे गालों को स्पर्श करती है अथवा पत्तियों में हम उसकी सरसराहट सुनते हैं या फिर धूल भरी आंधी देखते हैं तो वायु के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। ठीक इसी प्रकार, दोषों के प्रभाव को देखकर हमें उनके अस्तित्व को मानना ही पड़ता है।

तीन दोषों में से प्रत्येक में किसी अन्य पदार्थ की तरह पांच में से दो तत्व होते हैं। इस प्रकार 'वात' वायु और आकाश तत्व से निर्मित है; अतः सर्वाधिक हल्का 'दोष' है। 'पित्त' में अग्नि अथवा तेज और जल तत्व हैं जबकि 'कफ' में पृथ्वी और जल तत्व होने के कारण यह सब दोषों में सबसे भारी है। 'दोष' मूलतः ऊर्जा के तीन रूप हैं। एक सामान्य मनुष्य के शरीर में ये एक टीम (दल) के रूप में काम करते हैं और जैसाकि प्रारंभ में कहा गया, मानव शरीर के कार्यपालक हैं। ये निर्माणक तत्व 'दोषों' को विशिष्ट गुण प्रदान करते हैं और प्रत्येक दोष का अपना एक व्यक्तिगत गुण होता है और दूसरों के प्रति दो विरोधी गुण होते हैं। अतः दोषों की प्रकृति मुख्यतः आहार से (अगले अध्यायों में आप देखेंगे कि ऐसा क्यों होता है) तथा परिवेशीय तापमान, ऋतु, संवेदी निवेश, मानसिक अवस्था आदि से प्रभावित होती है।

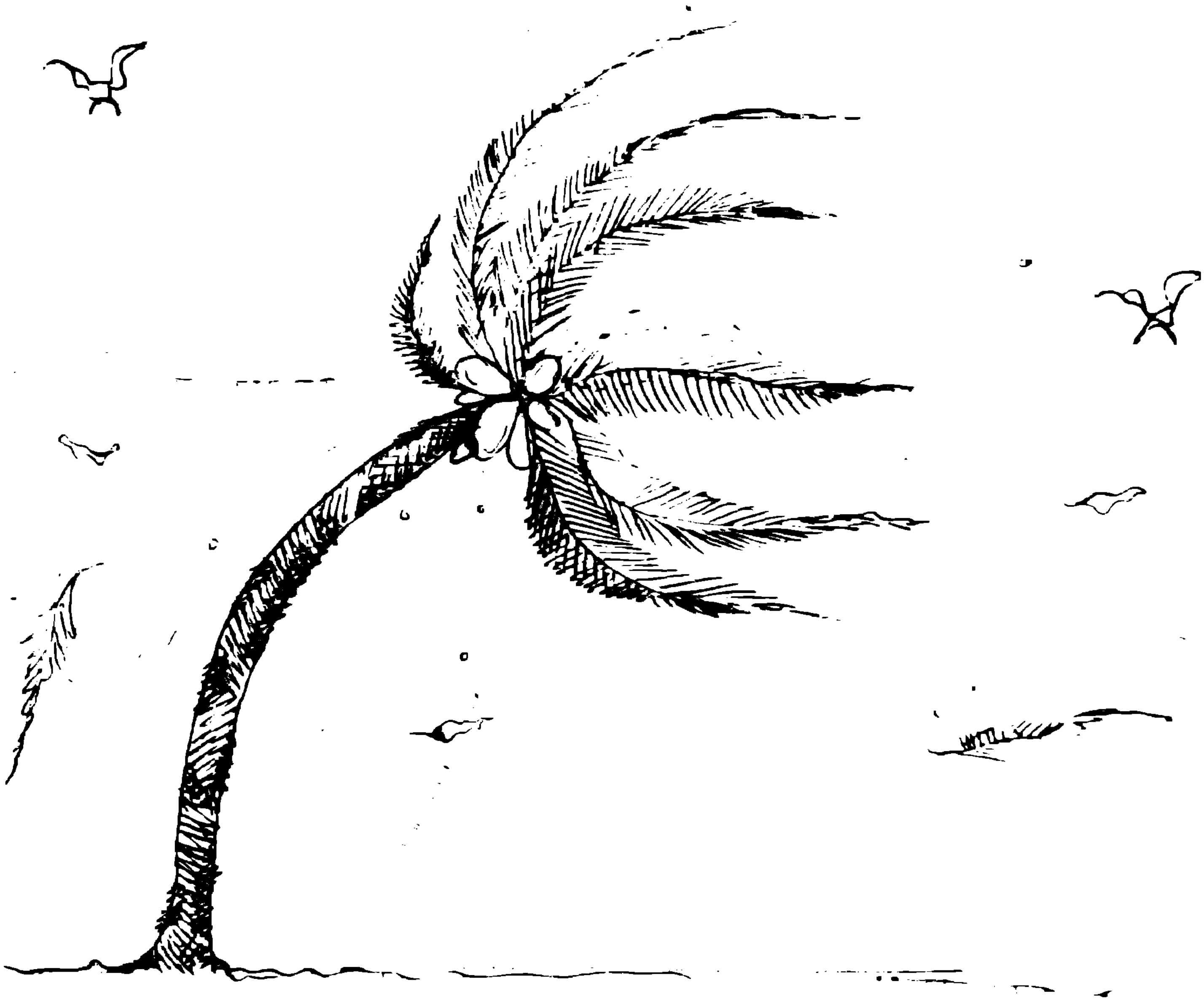
अब हम प्रत्येक दोष की प्रकृति का गहराई से अन्वेषण कर लें।

वात दोष : मुख्य कार्यपालक अधिकारी

यदि दोषों को गतिशील ऊर्जा का रूप माना जाता है तो 'वात' दोष की 'गतिक ऊर्जा' से तुलना करना ठीक होगा। 'वात' शब्द का उद्भव 'जो गतिशील होता है' में खोजा जा सकता है, अतः 'गतिक ऊर्जा' से इसका साम्य ठीक बैठता है।

'वात' गतिविधि के सभी रूपों का प्रवर्तक है। यह शरीर के संचार 'नेटवर्क' में ज्ञानेन्द्रिय से मस्तिष्क और चेतना तक, ऊतकों से ऊतकों और कोशिका से कोशिका तक, महत्वपूर्ण है। 'वात' अवबोधन (यहां तक कि वेदना) परिपाचन और अभिक्रिया के लिए उत्तरदायी है। यह 'विचार' को स्मृति से चेतना तक लाता है और वर्तमान अनुभवों को स्मृतियों में परिवर्तित करता है। यह 'वाक्' को प्रेरित करता है और हास्य एवं उन्नयन का आधार है।

भौतिक शरीर के स्तर पर वात बृहत् और सूक्ष्म चेष्टाओं (गतियों) को नियंत्रित करता है। इस प्रकार शरीर की चेष्टा और गति से डिंब ग्रंथि से डिंबवाही नली में डिंब के जाने तक लौह को ग्राही स्थलों से जुड़ने में सहायता देने (प्लाज्मा ट्रांसफेरिन में प्रोटीन के वहन), विशिष्ट अभिग्राहकों के उत्प्रेरण की प्रतिक्रिया स्वरूप,



इसमें वायु और आकाश सन्निहित हैं। यह गति का द्योतक है तथा वृद्धावस्था में प्रबल हो जाता है।

आयन चैनलों के खुलने तक वात सभी को नियंत्रित करता है। यह मुख्यतः पार्किन्सनवाद और जरावस्था के कंपन जैसे रोगों तथा वयस्कों को होने वाली आंत्र समस्याओं (मलावरोध और अतिसार) जैसे रोगों के लिए भी उत्तरदायी है।

संक्षेप में, लिखने का कार्य करने वाली उंगली के पीछे भी वात की शक्ति होती है। अतः अपनी पंसद के मुताविक सादृश्य के आधार पर वात को शरीर रूपी कंपनी का मुख्य कार्यपालक अधिकारी अथवा प्रबंध निदेशक अथवा स्वर संगति का संवाहक या फिर देश का प्रधानमंत्री कहा जा सकता है।

आयुर्वेद के अत्यधिक प्राचीन व्याख्याकार चरक ने लिखा है कि वात पांच प्रकार के होते हैं। उनका यह वर्गीकरण शरीर संरचना (बनावट) और शरीरक्रिया विज्ञान (प्रकार्य) दोनों पर ही आधारित है। वात के पांच निम्न प्रकार हैं :

प्राण : इसका संबंध छाती और श्वसन से है।

व्यान : इसका संबंध छाती से ही है तथापि हृदय के कार्यो से अधिक संबंध है।

उदान : इसका संबंध ऊपरी आहारनली से है। वमन तथा ऊपरी आहारनली

के अन्य रोगों में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

समान : इसका संबंध आंतों से है और यह भोजन के पाचन तथा मल बनाने के लिए अपेक्षित आलोड़न क्रिया को नियंत्रित करता है।

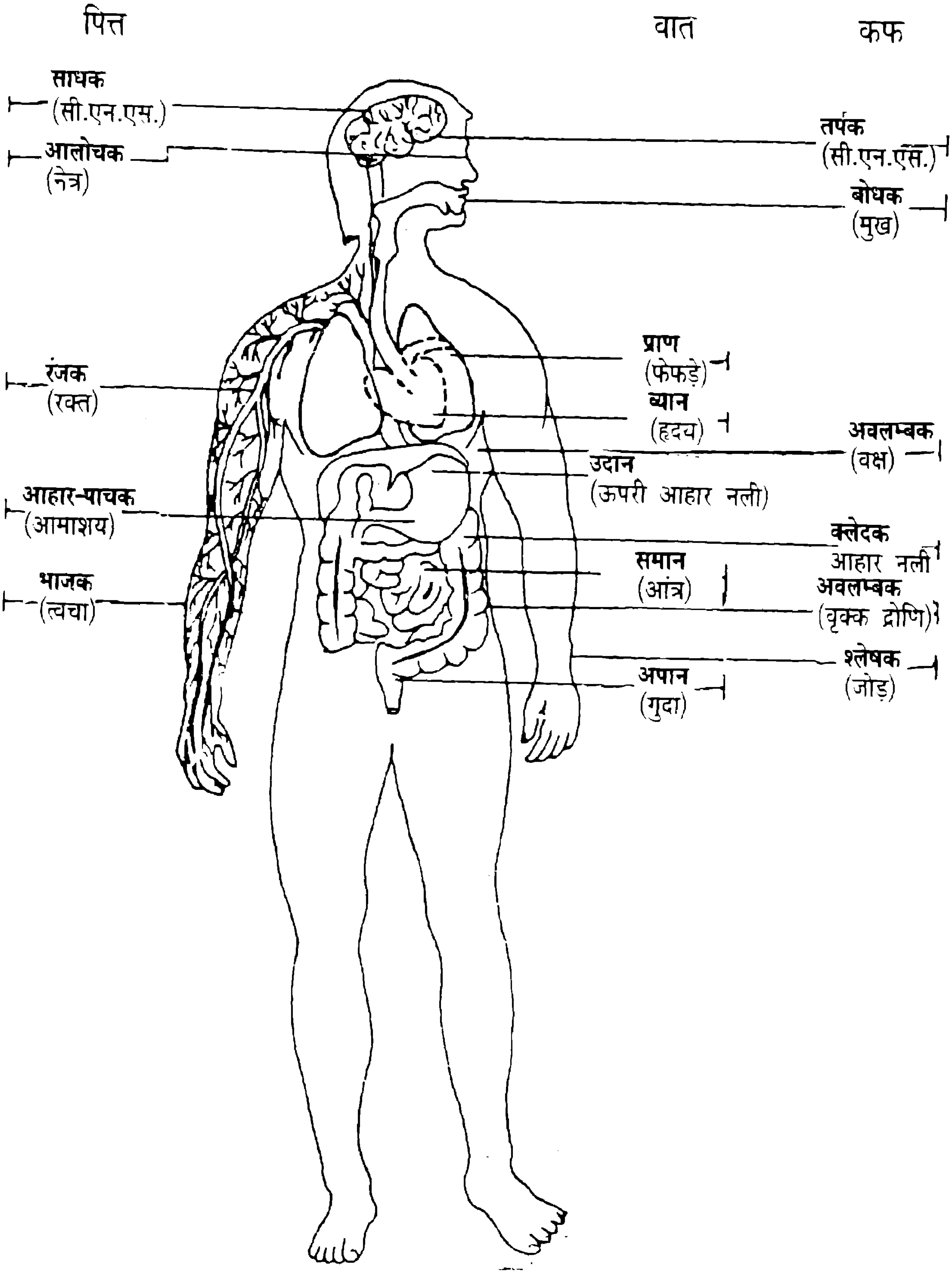
अपान : इसका संबंध गुदा एवं जननिक-मूत्रीय प्रणाली से है। यह मल-त्याग, शुक्र-स्खलन तथा प्रसव (बच्चे का पैदा होना) को नियंत्रित करता है।

पंच तत्वों में से वायु और आकाश से निर्मित वात प्राकृतिक रूप से हल्का, शीतल और शुष्क होता है। कोई भी इससे यह समझ सकता है कि सभी पर्यावरणीय कारक (आहार, मौसम) जो कि शीतल, हलके अथवा शुष्क होते हैं, वात को अव्यवस्थित करके रोग को जन्म दे सकते हैं। वात का हल्का, शुष्क और ठंडा होने का गुण ही अन्य दोषों के ऊपर उसकी शक्ति का आधार है। इनमें से यदि किसी भी गुण में परिवर्तन होता है तो उस पर वात का नियंत्रण समाप्त हो जाता है।

वस्तुतः वात न घटता है न बढ़ता है, वह केवल असंतुलित हो जाता है जिससे, जिन दोषों और धातुओं को यह नियंत्रित करता है, वे अनियंत्रित हो जाते हैं और परिणामस्वरूप रोग जन्म लेता है। इसलिए अधिकतर उपचार इसकी मात्रा को घटाने-बढ़ाने की बजाय दोष को सामान्य करने का प्रयास करते हैं।

जब त्वचा या खोपड़ी शुष्क और पपड़ीयुक्त हो जाती है, जब बालों में रूसी हो जाती है अथवा किसी के पैरो में बिवाइयां हो जाती हैं तो इसे वात दोष के असंतुलित होने की चेतावनी समझना चाहिए। रोगी के शरीर की बनावट और वय, ऋतुएं और मौसम जैसे अनेक 'अन्य कारणों के आधार पर अनेक' अन्य लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार, व्यक्ति की समझ भौथरी और स्मृति क्षीण हो जाती है और समझने की शक्ति ढीली पड़ जाती है। रात्रि में अनिद्रा रोग का प्रकोप होता है तथा अपच और गैसीय प्रसार व्यक्ति के जीवन को विषादमय बना देता है। पीठ के निचले भाग में दर्द, जोड़ों और जंघाओं में दर्द तथा शीत और वायु का सहन न होना इनके अन्य लक्षण हैं। इनके विवरण से शायद आप सोच सकते हैं कि हम वृद्धावस्था की व्याधियों का बखान कर रहे हैं। हम सचमुच ऐसा ही कर रहे हैं क्योंकि वृद्धावस्था में सचमुच वात नियंत्रण खो बैठता है और अव्यस्थित हो जाता है।

ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में वात अधिक अव्यवस्थित होता है। तनाव वात को दूषित कर देता है और बदले में यह पित्त और कफ में फेरबदल कर देता है जिससे अनेक प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं। निद्रा अभाव, अधिक शारीरिक श्रम तथा लंबे समय तक निराहार रहने से भी वात विकृत होता है।



दोषों के स्थल

वात नियंत्रक होता है; यह परोक्ष रूप से नियंत्रण शक्ति है। आयुर्वेद पित्त और कफ की शरीरिक स्तर पर व्याख्या करता है और कहता है कि ये प्रत्यक्ष हैं। दूसरी ओर चूंकि वायु और आकाश से निर्मित 'वात' प्रत्यक्ष नहीं है, अतः केवल उसके प्रभाव से ही उसके अस्तित्व का अनुमान लगता है।

पित्त दोष : उत्तेजक, ऊर्ध्वगामी गतिशील कार्यपालक

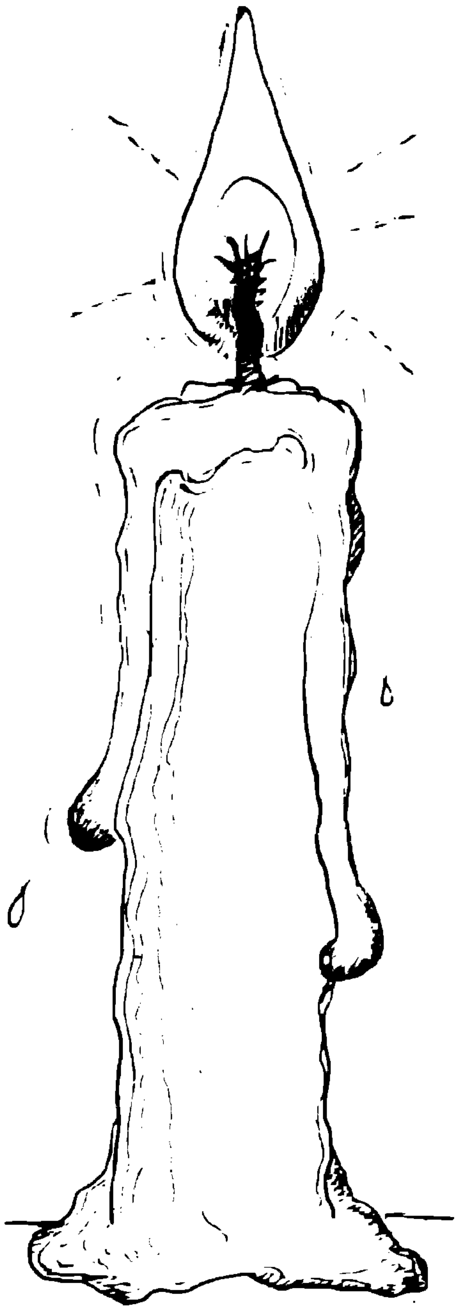
जैसाकि नाम से पता चलता है, पित्त दोष शरीर में सभी प्रकार के रूपांतरण के लिए उत्तरदायी है। पित्त आहारनली में भोजन की पाचन क्रिया को नियंत्रित करता है तथा रेटिना पर पड़ने वाली प्रकाश किरणों को विद्युत स्पंदनों में परिवर्तित करता है जिन्हें दृक् तंत्रिकाएं मस्तिष्क में संसाधन हेतु पहुंचाती हैं। आज हमें यह पता है कि रेटिना की शलाकाओं और शंकुओं में जटिल रासायनिक रूपांतरण होता है जो एक चमत्कार को जन्म देता है। यह चमत्कार है दृष्टि। मस्तिष्क में एक स्थानीय पित्त दोष होता है : यह मानो क्षेत्रीय प्रबंधक है जो प्राप्त होने वाले आंकड़ों को समझने और उनका विश्लेषण करने के लिए उत्तरदायी है। इसकी वजह से कुछ लोगों में निर्णय लेने की क्षमता का गुण होता है। इस प्रकार पित्त दोष की प्रबलता वाले व्यक्ति अत्यंत समझदार होते हैं, संवेदी निवेश को शीघ्रता से संसाधित करने और आंकड़ों के प्रति तत्परता से अनुक्रिया करने में सक्षम होते हैं। मस्तिष्क में प्रबल पित्त सूचना का अच्छा संसाधन करता है जिससे परिज्ञान में एक हद तक परिपक्वता आती है।

यदि वात दोष हास्य और उल्लास को नियंत्रित करता है तो पित्त दोष क्रोध, भय, अक्खड़पन जैसे मनोविकारों को नियंत्रित करता है। मस्तिष्क पर अपने प्रभावों से संमजन रखते हुए, पित्त सकारात्मक क्रियोन्मुख मनोभावों के लिए उत्तरदायी है चूंकि यह बुद्धि को तेज करता है, अतः यह लोभी प्रवृत्ति को जन्म देता है और मानव में छल-कपट की प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी समझा जाता है।

पित्त आहार-नली में भोजन-पाचन को नियंत्रित करता है। अतः यह क्षुधा और रुचिकर खाद्य (कतिपय भोज्य पद्रार्थों की पसंद) तथा प्यास के लिए उत्तरदायी है। यह त्वचा में (भलीभांति भोजन पचाकर) आभा उत्पन्न करता है। भोजन पाचन और त्वचा-वर्ण के बीच असंगत संबंध आहार संबंधी अध्याय में आपके समक्ष स्पष्ट हो जायेंगे। पित्त बालों को मुलायम और रेशमी बनाता है। यह शरीर के तापमान के नियमन में भी सहायक होता है।

ऐसी स्थिति में वात की अपेक्षा पित्त अधिक कायिक है। हालांकि इसे प्रबंध संवर्ग में ही माना जाता है तथापि यह वात से निचले स्तर पर है। वात के समान ही, पित्त दोष भी पांच प्रकार के होते हैं जो निम्नलिखित हैं :

आहार पाचक : यह वह पित्त है जो भोजन के पाचन को नियंत्रित करता है। चूंकि 'पित्त दोष' परिवर्तक है, यह ऐसी शक्ति के समान है जो आहारनली द्वारा स्रवित पाचक एन्जाइंस को नियंत्रित करता है। यह 'पित्त' समान वात



पित्त में अग्नि और जल समाविष्ट हैं; यह रूपातंरण का द्योतक है; युवावस्था में यह प्रबल रहता है।

के साथ मिलकर आहारनली के कार्य को सामान्य रखने हेतु काम करता है। शारीरिक चेष्टा (वात द्वारा नियंत्रित) तथा रासायनिक रूपांतरण (पित्त द्वारा उत्पन्न) दोनों ही, हमारे द्वारा ग्रहण किए गये भोजन को पचाने हेतु अपेक्षित हैं।

रंजक पित्त : इस प्रकार के पित्त को समझने के लिए हमें आयुर्वेद में वर्णित भोजन-पाचन के सिद्धांत को समझना आवश्यक है। ऐसा माना जाता है कि हम जो भोजन करते हैं पहले वह आहार-नली की पुटी में पचता है और वहां वह 'रस' में परिवर्तित होता है। यह 'रस' प्रथम मौलिक ऊतक (धातु) है जिससे शेष सभी धातुएं उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात् यह रस यकृत तक पहुंचता है जहां यह रंजक पित्त के प्रभाव से 'रक्त' में परिवर्तित होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी भोजन के पचे हुए तत्व यकृत में पहुंचते हैं हालांकि वे केवल रक्त में ही परिवर्तित नहीं होते। इस तरह, रंजक पित्त त्वचा के वर्ण और रंग रूप को नियंत्रित करता है। ऊतकों की रचना और व्यक्ति के सामान्य स्वरूप को संवारने हेतु पित्त का सक्रिय और स्वस्थ होना जरूरी है।

साधक पित्त : यह पित्त मस्तिष्क में स्थित है और पर्यावरण से पहुंचने वाले स्पंदनों के बाहुल्य के संसाधन के लिए उत्तरदायी है। प्रत्यक्षतः मस्तिक की कोशिकाएं शांत रहने की स्थिति में कफ की झीनी पर्त से आवृत्त रहती हैं। जब वहां कोई संदेश पहुंचता है तो साधक पित्त इस कफ को गति प्रदान करता है और चेतन मस्तिष्क को संदेश बोध कराता है। संवेदी संदेश को यथार्थ बोध स्तर तक रूपांतरित करने का कार्य साधक पित्त का है। इस समूचे तत्व को सुरम्य संगति प्रदान करता है, वात। स्नायु-दैहिकी एवं स्नायु शरीर रचनाविज्ञान की वर्तमान जानकारी के संदर्भ में यह विवरण पुरातन एवं सरल प्रतीत होता है। तथापि, मस्तिष्कों में 'वात-पित्त-कफ' त्रयी कार्यों की व्याख्या के निहितार्थ (जैसाकि हम आगे देखेंगे) रोचक है।

भाजक पित्त : यह 'पित्त' त्वचा में पाया जाता है और ऐसा लगता है कि

यह त्वचा की कतिपय रासायनिक गतिविधियों को नियंत्रित करता है। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि यदि त्वचा पर चंदन का लेप हो तो वह अन्ततः शुष्क हो जाता है। यदि संसक्ति में यह परिवर्तन जल के वाष्पीकरण के कारण होना हो तो पानी के पुनः संपर्क में आने पर चंदन लेप को अपनी पहली अवस्था में आ जाना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं होता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि त्वचा ने सचमुच चंदन लेप में कोई भूमिका निभाई है। हम जानते हैं कि सूर्य की किरणों के प्रभाव से त्वचा का विटामिन डी के सक्रिय अंश के संश्लेषण में योगदान होता है। त्वचा में, हॉर्मोन यौगिक (स्टॅरॉइड्स) तथा नाइट्रेट जैसी औषधियों के चयापचय की क्षमता होती है। यह भाजक पित्त के कारण संभव होता है।

आलोचक पित्त : यह 'पित्त' सर्वाधिक मोहक किस्म का है। इसका वास नेत्रों में है और यह दृष्टि के प्रति उत्तरदायी है। यह रेटिना पर प्रतिबिंब बनने में सहायक होता है। अन्य सभी ज्ञानेंद्रियों में स्नायु-परिवर्तकों के बनने के बावजूद, चाहे स्पर्श, वेदना अथवा स्वाद हो, संवेदन बोध के लिए, बाह्य सतह पर कोई रासायनिक रूपांतरण नहीं होता। इसके लिए अपेक्षित होता है किसी उत्प्रेरक द्वारा संबंधित अभिग्राहक को सक्रिय करना। उत्प्रेरित होने पर अभिग्राहक तंत्रिका (स्नायु) के माध्यम से स्पंद को केंद्र तक पहुंचाता है जहां 'साधक पित्त' इंद्रिय के चेतन अवबोधन के लिए सूचना को संसाधित करता है। दूसरी ओर, नेत्र में ऐसा रासायनिक रूपांतरण होता है कि बाह्य पदार्थ का बिंब रेटिना पर चित्रित होता है। 'आलोचक' अथवा 'नेत्रक पित्त' इसका नियंत्रण करता है। 'पित्त' की रचना 'अग्नि' और जल से होती है, अतः यह उग्र और गतिशील तरल है। सभी उग्र और उत्तेजक पर्यावरणी पदार्थ (आहार, मौसम आदि) पित्त को असंतुलित कर सकते हैं और रोग को जन्म दे सकते हैं। पित्त सामान्यतः अपराह्न में तथा शरद ऋतु (सितंबर-अक्तूबर) में सर्वाधिक सक्रिय होता है हालांकि इसकी वृद्धि मानसून के दौरान होती है और यदि इसे नियंत्रित न किया जाये तो वात के साथ मिलकर यह उपद्रव कर सकता है। यही वह मौसम है जब लोग पित्त की प्रबलता के कारण सर्वाधिक कष्ट पाते हैं। और यदि ये लोग गर्म, मसालेदार भोजन करते हैं तो उनके शरीर में और भी अधिक गड़बड़ी उत्पन्न होने की आशंका रहती है।

यद्यपि 'पित्त दोष' की प्रधानता त्वचा में आभा उत्पन्न करती है तथा केशों को मुलायम और चिकना बनाती है, तथापि इससे त्वचा में जल्दी ही झुर्रियां पड़ सकती हैं, बाल सफेद हो सकते हैं और असमय गंजेपन के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। अधिक स्वेदन, ताप के प्रति असहनशीलता, तलुवों और हथेलियों का

गर्म रहना (हथेलियों का प्रायः आर्द्र बने रहना) पित्त की प्रधानता के अन्य लक्षण हैं।

असंतुलित आहार या फिर ऋतुओं के परिवर्तन के कारण पित्त की वृद्धि से भूख तो लगती है किंतु खाने पर भोजन भलीभांति पचता नहीं है जिसकी वजह से व्यक्ति अकर्मण्य और सुस्त रहता है। ऐसा व्यक्ति घोड़े की खुराक जितना भी खाना खा ले तो उसका वजन नहीं बढ़ता ! ऐसे व्यक्ति में सिर दर्द, वमन अथवा अतिसार तथा त्वचा रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उत्तेजक और ऊर्ध्वगामी गतिशीलता की प्रवृति के अनुरूप 'पित्त दोष' युवावस्था और प्रारंभिक प्रौढ़ावस्था में प्रबल रहता है।

मसालेदार अथवा चिकनाई युक्त भोजन करने अथवा देर रात तक जगने (विशेषकर यदि मादक पेय का सेवन किया हो) या तनाव और चिंताग्रस्त होने पर 'पित्त' असंतुलित हो जाता है।

उस समय पित्त रूपांतरण के लिए उत्तरदायी होता है और अपने से बड़े 'वात' की निगरानी में कार्य करता है। यह एक युवा की सभी विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है और यदि इसकी मात्रा बढ़ जाये तो पाचन शक्ति को हानि पहुंचाकर जल्दी वृद्ध बना सकता है !

कफ दोष : भद्र मध्यस्थ

जैसाकि हमने देखा, 'वात' परिपक्वता और वृद्धावस्था की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जबकि 'पित्त' में युवा का ऊर्जावाद परिलक्षित हुआ। दोष-त्रिकोण के तृतीय कोण 'कफ' को बलगम (श्लेषमा) भी कहते हैं। यह शरीर में संसक्ति ऊर्जा है। यह कष्टों को शांत करने में सहायक होता है, आवश्यकता पड़ने पर स्नेहन करता है और संबल प्रदान करता है। 'कफ' घर के जनसंपर्क अधिकारी की भूमिका निभाता है। यदि 'वात' गतिक ऊर्जा है तो 'कफ' अंतर्निहित ऊर्जा है।

'कफ' ऊतकों के अत्यंत समीप है और पित्त की भांति इसे 'वात' की अपेक्षा बड़ा, भौतिक स्वरूप प्रदान किया गया है। 'कफ' जिन ऊतकों को प्रभावित करता है उनके कई गुण इसमें पाए जाते हैं। यह पित्त का विरोधी है क्योंकि यह स्वभाव से उपचयी अथवा प्रवर्तक है। जहां पित्त उत्तेजित होता है और वात द्वारा नियंत्रित गति के लिए ऊर्जा प्रदान करता है वहां कफ सहायता प्रदान करता है। स्थायित्व इसका विशेष गुण है। पुनः 'पित्त' के विपरीत, 'कफ' वफादारी, अनुग्रह और स्नेह का द्योतक है। इस दोष की प्रधानता वाला व्यक्ति क्षमाशील स्वभाव का

होता है वह ईर्ष्या से मुक्त रहता है तथा उसमें धैर्य रखने की प्रवृत्ति होती है। 'कफ' आहारनली को चिकना बनाता है, पित्त द्वारा भोजन के पाचन और वात द्वारा आलोड़न क्रिया के समय 'कफ', भोजन को रोककर रखता है। यह सूक्ष्मतम कोशिका के निर्माण में सहायक होता है, साथ ही बड़ी से बड़ी अस्थि के निर्माण में भी सहायक होता है। यह सभी ढांचागत तत्वों को एक साथ बांधे रखता है। 'कफ' मानसिक शक्ति प्रदान करने के साथ-साथ रोगों के विरुद्ध रोधक क्षमता प्रदान करता है तथा संधियों (जोड़ों) का स्नेहन करते हुए उन्हें दृढ़ता प्रदान करता है। और तो और, 'कफ' यौन शक्ति भी प्रदान करता है।

'वात' और 'पित्त की भांति 'कफ' के भी पांच प्रकार हैं। 'वात' की भांति 'कफ' का वर्गीकरण भी शरीर रचना और शरीरक्रियाविज्ञान पर आधारित प्रतीत होता है। कफ के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं :

बोधक : यह भोजन के स्वाद को संभव करता है और कदाचित लार की बात कहता है। यह मुख्य रूप से मुंह और जिह्वा के मूल में पाया जाता है। जब मुंह में पानी आता है अथवा प्रियोक्ति करते समय अथवा मन खराब करने वाली घटना होने पर मुंह का स्वाद कड़ुवा हो जाता है तब पता लगता है कि बोधक कफ उत्तेजित हो गया है।

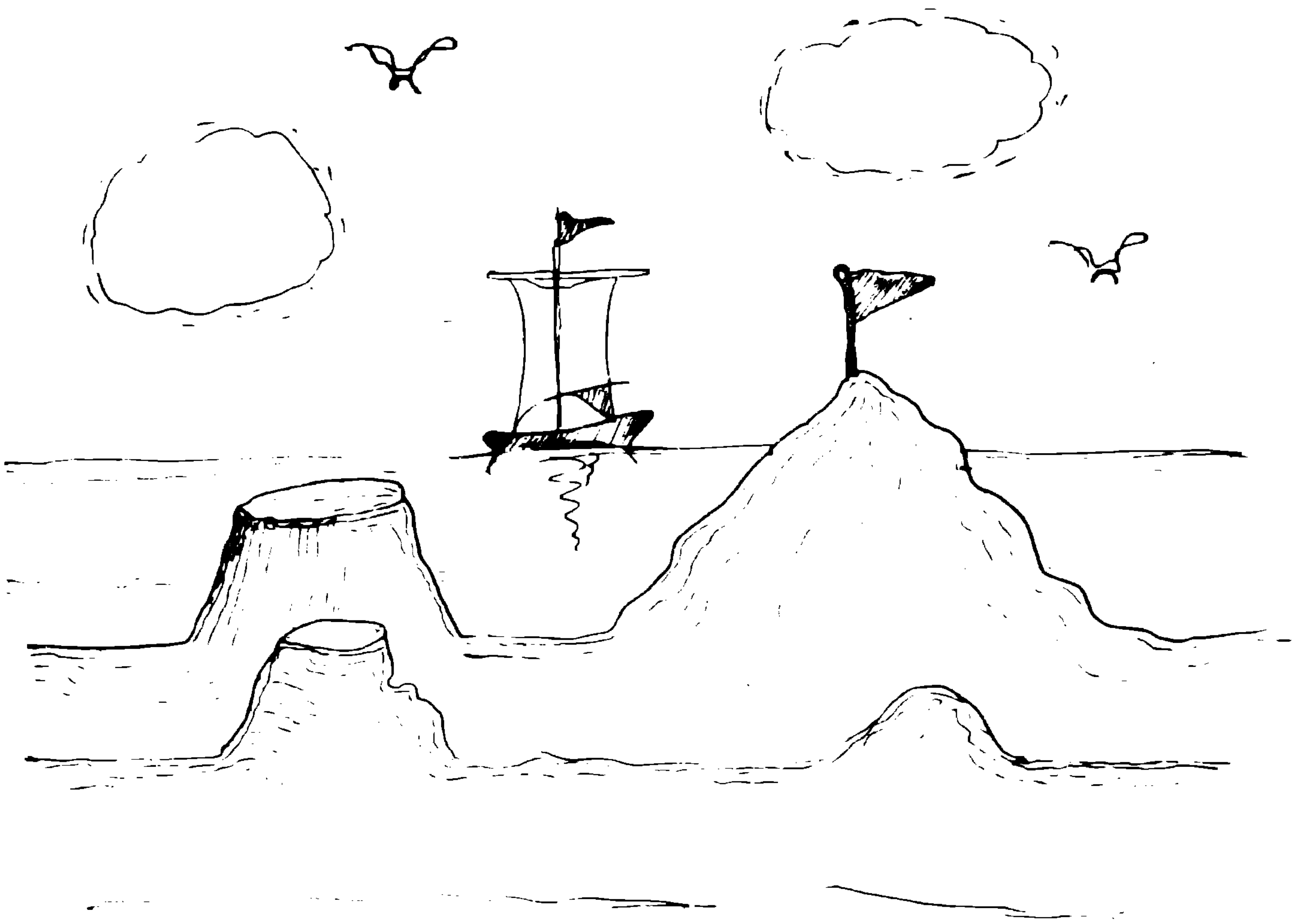
क्लेदक : यह आहारनली में सक्रिय रहता है और उग्र पित्त से आमाशय की रक्षा करता है। यह कदाचित श्लेषमा है जो आमाशय की भीतरी सतह का निर्माण करता है।

तर्पक : यह मस्तिष्क में होता है और बाह्य चोट से उसकी रक्षा करता है। यह संभवतः प्रमस्तिष्क मेरुदंड तरल है।

श्लेषक : यह श्लेषिक तरल है जो जोड़ों को अधिक लचीला बनाते हुए उन्हें चिकनाई और स्नेहन प्रदान करता है। यह स्नायुओं को शक्ति और दृढ़ता भी प्रदान करता है।

अवलंबक : यह वक्ष और श्रोणि में पाया जाता है। यह इस भाग के अवयवों का स्नेहन करता है ओर उनकी समुचित क्रियाओं को सुगम बनाता है।

जल और पृथ्वी तत्व से निर्मित होने के कारण 'कफ' भारी, स्थिर और आर्द्र होता है। अतः भोजन के मीठे, खट्टे और नमकीन पदार्थ स्वभाव से इस भारी दोष को अव्यवस्थित कर सकते हैं। वजन बढ़ाने वाले कार्बोहाइड्रेट और वसा भी कफ में वृद्धि कर सकते हैं। यह सामान्यतः प्रातः, संध्या प्रारंभ के समय प्रबल रहता है। इसी प्रकार वसंत काल में कफ दोष अत्यधिक उग्र होता है। यह वह समय है जब कफ की प्रधानता वाले लोग अधिक तकलीफ पाते हैं।



कफ में पृथ्वी और जल का समावेश है। यह संश्लेषण का द्योतक है और बाल्यावस्था में प्रबल रहता है।

इस समय अधिक मात्रा में मिष्ठान्न खाकर दिन में झपकी लेने/ऊंघने से ऐसे लोग आलसी बन जाते हैं।

कफ ऐसे व्यक्ति को सौम्यता और मृदुलता प्रदान करता है जो प्रौढ़ावस्था की छल पूर्ण प्रवृत्तियों के प्रतीक पित्त अथवा वृद्धावस्था की संयत परिपक्वता और विवेक के प्रतीक वात से रहित होते हैं। अपने इस स्वभाव के अनुरूप, बाल्यावस्था और किशोरवस्था में कफ की प्रधानता रहती है।

कफ की अधिकता व्यक्ति को मोटा, संतुष्ट और कदाचित किंचित सुस्त बना देती है। तथापि कफ का यह गुण, प्रतिकूल अवस्थाओं में भी व्यक्ति को अत्यधिक स्थायित्व प्रदान करता है। यदि दोष अव्यवस्थित हो जाए तो ईर्ष्या की प्रवृत्ति के साथ क्षीणता, नपुंसकता, लार में ह्रास (अथवा मुंह सूखना) तथा खराब पाचन शक्ति जैसी शारीरिक कमियां उत्पन्न हो सकती हैं। प्राचीन मतानुसार कफ की अपसामान्यताएं श्वसन रोगों, बहुमूत्रता, दुर्बल चित्तता, क्षीणता और अकर्मण्यता को जन्म देती हैं।

कफ पित्त की उग्रता को नियंत्रण करने वाला सौम्य दोष है और सदैव वात के आदेश का पालन करता है।

इस प्रकार शरीर पर नियंत्रण रखने वाले ये तीन अधिकारी (बॉस) हैं : मुख्य कार्यपालक अधिकारी अर्थात् 'वात', उत्तेजक परिवर्तक 'पित्त' तथा सौम्य स्थायीकारी (स्टैबलाइजर) 'कफ'। अब हम यह देखेंगे कि ये किन पर नियंत्रण रखते हैं ?

4

जनता अर्थात् धातुएं

स्वास्थ्यवर्धक आहार के 'रसों' द्वारा रचित, पोषित और प्रतिपूर्तित, धातुएं अथवा ऊतक जीवन रूपी तिपाई के दूसरे पाये का निर्माण करते हैं जबकि दो अन्य पाये 'दोष' और 'मल' (ऊतकों का चयापचयी उत्पाद) हैं। ये ऊतक अथवा धातुएं जैसाकि आगे हम इन्हें इसी नाम से जानेंगे, वास्तव में पचे हुए भोजन से निर्मित उत्पाद हैं। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि हम जो भोजन करते हैं, आयुर्वेद उसे कितना महत्व देता है (यहां तक कि प्रायः लापरवाही से किए गए भोजन की किंचित मात्रा को भी)।

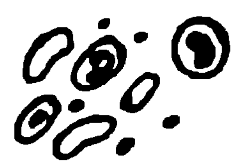
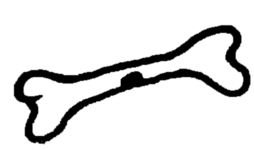
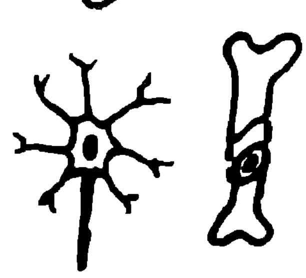
प्रकृति के अन्य उत्पादों के समान ही धातुएं भी पंच तत्वों (पंचमहाभूत) से निर्मित हैं जो धातुओं को उनके विशिष्ट गुण प्रदान करते हैं। धातुओं में सर्वाधिक प्रमुख तत्व पृथ्वी है जो उन्हें स्थायित्व प्रदान करता है और उनके एक जगह से दूसरी जगह जाने पर रोक लगाता है। जिन धातुओं में अग्नि तत्व होता है उनमें ताप ऊर्जा होती है जो शरीर में रूपांतरण क्रिया में सहायता प्रदान करती है जबकि जल तत्व वाले ऊतक स्थाई और शीतल होते हैं।

दोषों और धातुओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि धातुएं, दोषों के सूक्ष्म संमजित नियंत्रण में अपना कार्य करती हैं। धातुएं अपना कार्य स्वयं प्रारंभ नहीं कर सकतीं। यदि हम शासन प्रणाली के उस सादृश्य के हिसाब से देखें जिसे हमने दोषों की व्याख्या के समय अपनाया था तो हम धातुओं की तुलना आम आदमी से कर सकते हैं ! 'धातुओं' पर 'दोष' शासन करते हैं, अतः दोषों के अभाव में धातुएं उत्तम ढंग से कार्य नहीं कर सकतीं। एक अच्छे लोकतंत्र की भावना से धातुएं गतिशील और सतत अंतःक्रिया से दोषों के प्रलंबन में सहायता करती हैं। अब तक, हमारे आहार और शरीर के कार्यों के बीच मौजूद जटिल संबंध अधिक स्पष्ट हो जाने चाहिए। हम जो भोजन करते हैं, धातुओं का निर्माण

करके उनका स्थान लेने में वह आत्मसात हो जाता है और उनके माध्यम से दोष बनते हैं जो बदले में धातुओं के कार्य को प्रभावित करते हैं।

संस्कृत में 'धातु' शब्द का अर्थ है 'अवलंब'। अतः ऊतक शरीर का आधारभूत ढांचा बनाते हैं। रोचक बात यह है कि आधुनिक चिकित्साविज्ञान के विपरीत आयुर्वेद केवल सात महत्वपूर्ण अथवा कार्यरूप से पृथक ऊतकों की बात करता है। शेष ऊतक इन्हीं के उत्पाद होते हैं और व्यक्ति के सामान्य स्वास्थ्य

ऊतक और उनके संबंध

तत्व	*दोष*	*धातु*		*उपधातु*
जल	कफ	रस		मां का दूध, मासिक-स्राव
अग्नि	पित्त	रक्त		नसें, रक्त कोशिकाएं
पृथ्वी	कफ	मांस		स्नायु एवं त्वचा
पृथ्वी+जल	कफ	मेदा		प्रस्वेद (पसीना)
वायु+आकाश	वात	अस्थि		दंत (दांत)
जल	कफ	मज्जा		कुछ नहीं
जल	कफ	शुक्र		कुछ नहीं

में इनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। आज के युग में जब इलैक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी, हमें सूक्ष्मतम स्तर तक ऊतकों के अध्ययन (जिसे देखो उस पर विश्वास करो) में सहायक होता है, वहां आयुर्वेदिक ग्रंथों में वर्णित शरीररचनाविज्ञान एवं दैहिकी का अध्ययन करना मूर्खतापूर्ण लगता है। ऐसा महसूस होता है मानो इस अध्ययन में गहनता का अभाव है और यह प्राथमिक स्तर का ज्ञान है। यही वह बिंदु है जहां व्यक्ति इस चिकित्सा विज्ञान को तिलांजलि देने की बात सोचता है। किंतु प्रतीक्षा करें, जिगसॉ पहेली इतने सुंदर ढंग से हल होगी कि प्राचीन आयुर्वेदिक चिकित्सकों के पर्यवेक्षणात्मक और तर्कपूर्ण कौशल से न केवल आप आश्चर्यचकित होंगे बल्कि उनके सिद्धांतों को स्वीकार करना प्रारंभ करते हुए उन्हें व्यवहार में लाने हेतु प्रवृत्त हो जायेंगे।

अब हम वापस धातुओं पर आते हैं। अच्छी प्रबंध नीतियों का पालन करते हुए सात ऊतक अथवा सप्त धातुएं एक निर्धारित अनुक्रम में रखी गयी हैं। प्रथम स्तर के ऊतक को 'रस' कहते हैं (चित्र देखें)। जो भोजन किया जाता है वह आहारनली में पचता है और 'सार' अर्थात् आहार से बनने वाला उपयोगी घटक रसधातु की रचना हेतु अवशोषित हो जाता है। यह मौलिक ऊतक है जो अपने संपर्क में रहने वाले बाद के अन्य ऊतकों का पोषण करता है और उनके गुणों को प्रभावित करता है। इसकी तुलना शरीर में मौजूद प्लाज्मा अथवा कोशिकाओं के बाहर मौजूद तरल पदार्थ से की जा सकती है। 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति 'चेष्टा करना' धातु से है। कदाचित इसे यह नाम इसलिए दिया गया क्योंकि यह शरीर में 'सार' अर्थात् उस पोषक तरल पदार्थ का प्रतिनिधित्व करता है (वात दोष के मार्गदर्शन में) जो विभिन्न अवयवों में प्रवाहित होता है। यह 'रस' धातु मुख्यतः जल से बनी है और कफ दोष के साथ काफी समरूपता है, इस हद तक कि यह उसके गुणों को अत्यधिक प्रभावित करती है। यह कदाचित लोकतंत्र वाली हमारी स्थापित परिकल्पना को बल प्रदान करती है। शासक के चरित्र की पहचान उन लोगों की प्रकृति से होती है जिनके बीच से नेता चुना जाता है।

जैसाकि हमने प्रारंभ में देखा, मुख्य ऊतकों के गौण (द्वितीयक) ऊतक भी होते हैं जो 'उपधातु' कहलाते हैं। रसधातु की उपधातुएं हैं मां का दूध एवं मासिक-स्राव। अनुक्रम व्यवस्था में इनकी कोई भूमिका नहीं होती। बल्कि शरीर में इनका कार्य समाप्त होते ही इन्हें निष्कासित कर दिया जाता है। संक्षेप में, यहां तक कि मासिक-स्राव जैसे प्रत्यक्ष अपशिष्ट पदार्थों की भी शरीर से निष्कासित होने से पूर्व अपनी भूमिका होती है।

'रसधातु' ऊतकों में मुख्य पर्यवेक्षक है। अपने शरीर रचनात्मक प्रसार के

कारण यह शेष छह ऊतकों के सूक्ष्मतम कार्यों को प्रभावित करने में सक्षम है। किसी व्यक्ति की 'रसधातु' की गुणवत्ता का अनुमान उसकी त्वचा की दशा देखकर लगाया जा सकता है। यदि त्वचा चिकनी और दीप्तियुक्त है, मुलायम और नाजुक है, तथा कांतिमय है तो इसका अर्थ है कि 'रसधातु' अच्छी स्थिति में है। विस्तार रूप में यह गौण ऊतकों के स्वास्थ्य को भी प्रतिबिंबित करेगी।

अनुक्रम में दूसरा स्थान 'रक्तधातु' (अर्थात् रक्त) ऊतक का है। इसमें लाल रक्त कोशिकाएं (आर. बी. सीज़) श्वेत रक्त कोशिकाएं तथा बिंबाणु जैसी हर प्रकार की रक्त कोशिकाएं शामिल हैं। शल्य चिकित्सक सुश्रुत द्वारा चौथा दोष कहे जाने वाले रक्त को काफी महत्व प्रदान किया गया। 'रसधातु', 'रक्तधातु' का पोषण करती है। यह पित्त दोष (रंजक पित्त) को प्रभावित करती है क्योंकि इसमें अग्नि-तत्व प्रधान होता है। रक्तधातु की उपधातुएं हैं नसें और रक्त कोशिकाएं।

रक्तधातु मांसधातु को तर रखती है। मांसधातु अर्थात् मांस अथवा मांसपेशियां। नसों के बीच श्रेणीबद्ध सन्निकटता पर ध्यान दीजिए जो रक्तधातु की उपधातुएं हैं जबकि मांसपेशियां अनुक्रम में अगले ऊतक हैं ! मांसधातु में इसे स्थायित्व प्रदान करने वाला प्रधान तत्व पृथ्वी है। संभवतः इसका मूल कार्य अस्थि-पंजर को अपने स्थान पर सुरक्षित रखना है ताकि यह शरीर के अन्य अंगों को सुरक्षा प्रदान कर सके। यह कफ दोष के साथ सर्वाधिक अंतःक्रिया करता है। स्नायु और त्वचा की पर्तें इसकी उपधातुएं हैं।

अगला ऊतक वह है जो हममें से अधिकतर के लिए घातक है। या तो हमारे शरीर में इसकी अधिकता होती है और हम इससे छुटकारा पाने में ही अपनी आधी ऊर्जा खर्च कर देते हैं या फिर यह इतनी अल्प मात्रा में होता है कि हम इसी चिंता में रहते हैं कि शरीर में इससे रचित गोलाइयों को कैसे सुधारा जाये। जी हां आपका अनुमान सही है, हम वसा ऊतक अथवा 'मेदाधातु' की चर्चा कर रहे हैं। 'मेदाधातु' में पृथ्वी और जल का समावेश है और जिसके साथ कफ दोष का सर्वाधिक सामंजस्य है। यही कारण है यदि हम कफज अथवा कफ-समर्थक आहार करते हैं तो इसका प्रभाव हमारे शरीर पर तुरंत दिखाई देता है। मां का दूध (जो कि 'रसधातु' की उपधातु' है) अपनी प्रकृति में कफ है और शिशुओं के लिए आदर्श आहार है क्योंकि उनके लिए वजन में वृद्धि और संश्लेषित क्षमता का उपयोग अपेक्षित है (विस्तृत जानकारी के लिए आहार संबंधी अध्याय देखें)। वसा का प्रमुख कार्य स्नेहन है और 'मेदाधातु' का एक महत्वपूर्ण उपोत्पाद प्रस्वेद, विशेषकर चिकनाई है जो प्रस्वेद का एक अंश होती है। इससे यह स्पष्ट होता

है कि मोटे लोग अधिक प्रस्वेदन के कारण तैलीय त्वचा की समस्या से क्यों परेशान रहते हैं !

अनुक्रम में अगला ऊतक 'अस्थि' है। यह ऊतक 'वात' के साथ अधिकतम संपर्क करता है क्योंकि इसमें पृथ्वी के साथ (जो सभी ऊतक में है) वायु और आकाश का समावेश होता है। इसलिए अस्थियां स्थाई और छिद्रिल होती हैं। अस्थि पंजर का निर्माण करती है और दांत इसके गौण अथवा उपधातुएं हैं। अस्थि से निर्मित अपशिष्ट (मल) बाल एवं नाखून हैं।

'मज्जा' छठा ऊतक है। समझा जाता है कि इसमें अस्थि मज्जा और स्नायविक ऊतक शामिल रहते हैं। इसमें 'जल' तत्व प्रधान होने के कारण यह कफ से अनुदेश प्राप्त करता है। धातुओं के क्रम में अंतिम ऊतक 'शुक्रधातु' है। यह बीज–शुक्राणु अथवा डिंब का प्रतिनिधित्व करता है। इसका कार्य कामेच्छाओं एवं प्रजननात्मक मनावेगों को प्रतिलक्षित करता है। शुक्र की कोई उपधातु अथवा मल (अपशिष्ट) नहीं होता।

अब हम देखते हैं कि आम आदमी का प्रतिनिधित्व करने वाले ऊतक स्थाई होते हैं। उनके विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है और वे पर्यावरण से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। दूसरी ओर 'दोष' गतिशील, सतत परिवर्तनशील, एक ऊतक से दूसरे ऊतक तक जाने वाले, इधर निर्देश दे उधर संरचना करने वाले अन्यत्र रूपांतरण करने वाले होते हैं। यह सब वे समंजन स्थापित करते हुए करते हैं और इसके फलस्वरूप व्यक्ति को स्वस्थ अनुभव करने का भाव प्रदान करते हैं।

मल : चयापचयी अंतिमोत्पाद

हम जीवन रूपी तिपाई के 'मल' रूपी तीसरे 'पाये' से धातुओं के विषय में प्रारंभिक चर्चा के दौरान अवगत हो चुके हैं। आइये, अब हम अपने शरीर के सर्वाधिक अनिवार्य भाग का परिचय प्राप्त करें।

आयुर्वेद में 'मल' की जिस प्रकार व्याख्या की गयी है उसके अनुसार वह शरीर का चयापचयी उत्पाद है। आयुर्वेद में 'अपशिष्ट' को दिए गये महत्व पर क्षणिक चर्चा कर लेना संभवतः उपयोगी होगा। सामान्यतः तो हम यही समझेंगे कि मल (चयापचयी उत्पाद) व्यक्ति के स्वास्थ्य को कायम रखने में मूत्र अथवा विष्ठा की भांति कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। किंतु आयुर्वेद दूसरी तरह से सोचता है। अपशिष्ट पदार्थ शरीर के अंदर रहने की स्थिति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं (और अपने आधुनिक ज्ञान के माध्यम से भी हम जानते हैं कि यह सत्य है क्योंकि 'मल' बृहदांत्र अथवा बड़ी आंत के कार्य को सुगम बनाता है;

जबकि मूत्र हार्मोन प्रणालियों के जरिए, शरीर में तरल पदार्थ तथा विद्युतापघट (इलैक्ट्रोलिट) संतुलन को प्रभावित करता है)।

सच पूछा जाए तो जीवनरूपी तिपाई के दोष-धातु-मल रूपी पायों में मल का संदर्भ केवल अपशिष्ट उत्पादों तक सीमित नहीं है। यदि इसकी शिक्षात्मक ढंग से व्याख्या को समझा जाए तो इसे 'चयापचयी अंतिमोत्पाद' कहना अच्छा होगा। इसका अर्थ है कि प्रत्येक कोशिका जो कि सक्रिय फैक्टरी के समान है, दोषों (नियंत्रण) के प्रभाव से रसायन (मल) उत्पन्न करती है जो बदले में उनकी संरचना करने वाली धातुओं के कार्य को प्रभावित करते हैं ! और इससे अंतःक्रिया की एक बार पुनः पुष्टि हो जाती है !

मल (ऊतकों का चयापचयी अंतिमोत्पाद) की तुलना दुधारी तलवार से की जा सकती है। उदाहरण के लिए, ऑक्सीजन-व्युत्पन्न मुक्त मूलक (कोशिकाओं द्वारा अपनी जीवनदायी ऑक्सीजन से हाथों-हाथ निर्मित रसायन) कोशिकाओं के चयापयची अंतिमोत्पाद माने जा सकते हैं। ये तत्व हमारी 'न्यूट्रोफिल' कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। न्यूट्रोफिल कोशिकाएं संक्रमण को रोकने हेतु रोगाणुओं को समाप्त करने वाली श्वेत रक्त कोशिकाओं की कुछ किस्में हैं। न्यूट्रोफिल रोगाणुओं के संक्रमण के प्रतिकारार्थ इन तत्वों को उत्पन्न करते हैं। हार्मोनों द्वारा उत्कर्षित होने पर उनकी रसायन उत्पन्न करने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है। (आप इसके औचित्य के लिए संभवतः पूछ सकते हैं कि क्या ये दोष हैं) ? यदि सीमा में रहे तो अच्छा है। बहुधा, न्यूट्रोफिल ऐसे दोष के निर्देश पर अनियंत्रित हो जाते हैं जो अकर्मण्य होता है। जिस समय समाप्त करने के लिए रोगाणु नहीं होते, तब वे इन मुक्त मूलकों को उत्पन्न करते हैं और तब सामान्य ऊतक उत्तेजित होकर रोग के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसा गठिया-ग्रस्त संधि शोथ में होता है और हाथ में दर्द अथवा पैरों के पंजों में शोध के लिए हम व्यर्थ ही अतिउत्साही न्यूट्रोफिल को दोष दे सकते हैं। यह कथन आयुर्वेद सिद्धांतों का सुंदर चित्र प्रस्तुत करता है : "जीवनरूपी तिपाई के तीनों पायों (दोष-धातु-मल) को स्वस्थ रखिए, आप रोगमुक्त रहेंगे।"

अब तक हमने यह महसूस कर लिया है कि चाहे आयुर्वेद हो अथवा आधुनिक चिकित्साविज्ञान, शरीर के क्रियाशील अवयवों के बीच स्वस्थ परस्पर क्रिया शरीर क्रिया विज्ञान का आधार है। दोष न केवल परस्पर एक दूसरे से संपर्क करते हैं बल्कि ज्यादातर समय बॉस की भूमिका निभाने वाले 'वात' से तथा जिन ऊतकों पर ये शासन करते हैं और 'मल' जिसके उत्पादन में ये सहायक होते हैं, उनसे भी सतत संपर्क करते रहते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि ऊतक आपस में

भी बात करते हैं। शरीर में होने वाले रचनात्मक संपर्क (संचार) की मात्रा को देखते हुए व्यक्ति यह आकांक्षा करता है कि यदि बाहरी दुनिया में इस रचनात्मक संपर्क के आधे के बराबर भी लोगों में परस्पर या जनता और उसके चुने हुए, नेताओं के बीच संपर्क होता तो हमारी अनेक समस्याएं समाप्त हो जातीं। तब भी, ऐसा भ्रामक आदर्शलोक अथवा इससे मिलता-जुलता, 'कुछ' मिलने की हम प्रतीक्षा करें !

ऊतकों का आधारभूत ढांचा निर्मित करने वाली कोशिकाएं एक दूसरे से किस प्रकार बात करती हैं ? जब हम एक दूसरे से बात करते हैं तब हम मुंह से बोलकर आवाज द्वारा, इशारों और स्पर्शों से अथवा आंखों की भाषा का माध्यम अपनाते हैं और अपनी अन्य इंद्रियों से सुनते हैं। शरीर के अंदर विशेष पेचीदा संचार मार्ग होता है। 1994 का नोबेल पुरस्कार वैज्ञानिकों को इसी प्रकार के संकेतन की यांत्रिकी व्याख्या के लिए दिया गया था। कोशिकाओं की पारस्परिक बातचीत के विषय में आयुर्वेद क्या कहता है ?

आयुर्वेद का कहना है कि यह संचार स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार की सरणियों के माध्यम से होता है। ये स्रोत कहलाती हैं। सातों महत्वपूर्ण ऊतकों में से प्रत्येक ऊतक में स्थूल स्रोतों के साथ ये स्रोत होते हैं। ये स्रोत हैं रक्त (रक्तवाह स्रोत), अपशिष्ट पदार्थ, (मलवाह स्रोत) तथा श्वास वायु (प्राणवाह स्रोत) आहार जो हम पचाते हैं (अन्नवाह स्रोत) और अंत में सरणियां (उदकवाह स्रोत) जो तरल पदार्थ को ले जाती हैं। इन स्रोतों को निष्क्रिय प्रेरकों की भूमिका नहीं दी गयी है, बल्कि ऐसा कहा गया है कि जिन ऊतकों को ये अपनी सेवाएं देते हैं उनके कार्यों में गतिशील होकर हिस्सा लेते हैं। समकालीन खोजों के प्रकाश में 'स्रोत' की व्याख्या का पुनर्प्रतिपादन अपेक्षित है। तंत्रिका संचारियों (न्यूटरोट्रांसमीटर) के निर्देश पर कोशिकाओं पर प्रभाव डालने हेतु खुलने और बंद होने वाली सूक्ष्मदर्शीय अभिग्राही सरणियों को शामिल करने हेतु 'स्रोत' की परिभाषा का विस्तार किया जाना भी अपेक्षित है। (आप फिर पूछ सकते हैं, क्या वह दोष है ?) यहां, आधुनिक चिकित्साविज्ञान के संदर्भ में विषयांतर कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। हम यह देखें कि हम उस अंतर्कोशिकीय संचार एवं यांत्रिकी के विषय में क्या जानते हैं जिसके द्वारा एकल कोशिकाओं को संदेश दिए जाते हैं जिससे वे प्रेरण विशेष के प्रति सक्रिय होती हैं।

प्रत्येक कोशिका की सतह पर 'अभिग्राही' होते हैं। जैसाकि नाम से संकेत मिलता है, ये अभिग्राही बाहर से संदेश ग्रहण करते हैं। इन अभिग्राहकों के साथ अंतःक्रिया करने पर कतिपय सरणियां खुलती हैं अथवा अंतर्कोशिकीय घटनाएं

होती हैं जो संदेश को विरूपित करके ऐसी भाषा में अनूदित करती हैं जो कोशिका की चयापचयी प्रक्रियाओं की समझ में आती हैं। अतः संदेश पढ़ा और प्रतिपादित किया जाता है तथा उस पर अमल किया जाता है। इस प्रकार अभिग्राही सरणियां (स्रोत) अहम् भूमिका निभाती हैं और उनमें किसी प्रकार की दुष्क्रिया, कोशिका, ऊतक, अंग तथा सामान्य रूप से व्यक्ति के लिए अनर्थकारी सिद्ध हो सकती है। आयुर्वेद ने ऐसे विविध आहारों (उदाहरणार्थ दही) का उल्लेख किया है जिसमें स्रोतों (स्रोत दृष्टि) को अवरुद्ध करने की प्रवृत्ति होती है, जिससे संचार मार्गों में बाधा उत्पन्न होती है, जिससे आलस्य महसूस होता है। पंचकर्म सहित कई उपचार इन सरणियों को निर्बाध रखने की दृष्टि से लाभप्रद हैं।

आइये, शरीर के घटकों के विषय में चर्चा करने के बाद अब हम 'अग्नि', अथवा 'जीवन की प्रेरक शक्ति' संबंधी विषय की ओर उन्मुख हों।

5

जीवन की प्रेरक शक्ति : अग्नि

आयुर्वर्णोबलं स्वास्थ्यत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः।।
—चरक चि.अ. 5/3

चरक संहिता के इस श्लोक में कहा गया है—
"जीवन, रूप रंग, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, त्वचा की कांति, संरचना, प्रतिरक्षा, ऊतक, चयापचयी अग्नि, एवं जीवन शक्ति—सभी उत्तम रहते हैं, यदि अग्नि उत्तम है।"

'अग्नि' नाम अर्थगर्भित है; कई बार हमने यह नाटकीय कथन सुना है—"जीवनाग्नि मंद-मंद जल रही है, तथापि उसके लिए जीवन-आशा बहुत कम है।" 'जीवन की अग्नि' शब्दों का क्या तात्पर्य है ? क्या यह किसी कथन का अलंकारिक अथवा प्रतीकात्मक रूप है या यह किसी प्राचीन लोक ज्ञान पर आधारित उक्ति है ? या फिर यह आयुर्वेद के कारण है जिसने अग्नि की 'जीवन की प्रेरक शक्ति' के रूप में व्याख्या की है ?

'अग्नि' को स्वास्थ्य और रोग के मध्य नाजुक संतुलन में 'धुरी' का स्थान दिया गया है। प्राचीन आयुर्वेदिक चिकित्सक चरक ने यहां तक कह दिया कि, " 'अग्नि', जीवन, शरीर, ऊतकों, बल और व्यक्ति के रूप रंग तक के लिए उत्तरदायी है।" जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी पर जीवन की प्रेरक शक्ति है उसी प्रकार शरीर के अंदर अग्नि जीवन की प्रेरक शक्ति है। सामान्य अग्नि का अर्थ है, स्वस्थ व्यक्ति और इससे विपरीत, असामान्य अग्नि रोग का निश्चित संकेतक है।

यह अग्नि क्या है ? आप कैसे पूछेंगे, क्या शरीर के अंदर अग्नि हो सकती है ? आप फिर भौंह टेढ़ी करके कह सकते हैं कि हमने रूपांतरण के लिए उत्तरदायी

शरीर की उद्दीपक ऊर्जा पित्त को समझा था। तब फिर, पित्त और अग्नि में अंतर क्या है ?

आइये, हम इन प्रश्नों को बारी-बारी से समझें। आयुर्वेद ने तीन प्रकार की अग्नि का उल्लेख किया है : जठराग्नि, धात्वाग्नि एवं पंचभूताग्नि अथवा सूक्ष्माग्नि। अपने नाम के अनुरूप स्थानों में इनका वास है, यथा, आमाशय में, ऊतकों में तथा ऊतकों का निर्माण करने वाले तत्व में अंतर्कोशिकीय रूप में। इसके पश्चात् संक्षेप में, इनकों और तत्वों की संख्यानुरूप धात्वाग्नि सात प्रकार की, तथा पंचभूताग्नि पांच प्रकार की होती है। जठाराग्नि का वास आमाशय में है और यह भोजन को पचाती है। पित्त दोष, विशेषकर पाचक पित्त जो आहारनली में पाचन पर भी नियंत्रण रखता है, ही वह ऊर्जा है जो प्रज्जवलन प्रक्रिया को जन्म देती है। दूसरी ओर अग्नि ही वास्तविक अग्नि है जो भोजन को पकाती अथवा पचाती है।

अग्नियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण जठराग्नि है। इसकी सामान्य क्रिया अन्य अग्नियों की विशेषता को प्रभावित करती है जिससे कोशिकाओं के कार्यों में फेरबदल हो जाता है। यदि पाचक पित्त और जठराग्नि दोनों ही उत्तम ढंग से कार्य करते हैं तो लिया गया आहार पूर्ण रूप से पच जाता है और इस प्रकार बनने वाला सार ऊतकों के लिए पोषक सिद्ध होता है। इस अवस्था में अग्नि को 'समाग्नि' (सम अग्नि) कहा जाता है। व्यक्ति स्वस्थ रहता है, त्वचा में आभा होती है। अंतर चेष्टाएं अच्छी होती हैं। ऐसा व्यक्ति बलिष्ठ होता है, चेहरे से तेज टपकता है और हर सुबह आलस्य और सुस्ती से रहित होता है। संक्षेप में, ऐसा व्यक्ति उत्कृष्ट स्वास्थ्य का अनुभव करता है।

यदि अग्नि प्रतिकूल हो जाए तो क्या हो ? ऐसा विभिन्न स्थितियों में हो सकता है; उदाहरण के लिए, यदि 'कफ दोष' अधिक प्रबल हो जाता है तो अग्नि तक इसकी मात्रा कम और मंद गति से पहुंचती है। भोजन ठीक से नहीं पचता और अंतिमोत्पाद अर्धपक्व भोजन अथवा अपक्व फल के समान होता है। यह 'मन्दाग्नि' अवस्था कहलाती है। अग्नि को मंद करने वाला एक अन्य कारक है आज की तेज रफ्तार जीवनशैली। इसमें आहारातिरेक (भूख से अधिक खाना) अथवा पहले किए गए भोजन के पचने से पूर्व खाना जैसी बातें शामिल हैं। दूसरी स्थिति को चावल पकाने की क्रिया से तुलना करके भलीभांति समझा जा सकता है। जब चावल पक रहे होते हैं तब बीच में मात्रा बढ़ाने के लिए हम उनमें और चावल नहीं डालते, इससे हम मुसीबत मोल ले लेंगे। ऐसी स्थिति में तो हम और अधिक चावल पकाने के लिए पृथक पात्र लेंगे। इसी प्रकार, हमें तब तक नहीं

खाना चाहिए जब तक अग्नि और पित्त भोजन की पहली किस्त के प्रति अपना काम पूरा न कर लें। यदि इनका काम समाप्त होने से पूर्व ही हम उनके लिए असंसाधित भोजन पहुंचा देंगे तो अग्नि विद्रोह करके अपना कार्य रोक देगी। इसी प्रकार, अनियमित आदतें, देर रात तक जगना, तनाव, चिंता और क्रोध भी अग्नि को अव्यवस्थित कर सकते हैं। अग्नि को प्रभावित करने वाली जो चीजें हमारे हाथ में नहीं हैं वे हैं ऋतु एवं तापमान की विभिन्नता। शरद ऋतु में अग्नि उत्तम अवस्था में होती है जबकि वर्षा (मानसून) और ग्रीष्म ऋतु में यह विविधतापूर्ण और अनियमित रहती है। (आप मई महीने के तेज गर्मी के दिनों को याद करके देखें जब आप कभी भूख महसूस नहीं करते किंतु हर समय तन्द्रालु बने रहते हैं और कोई काम कर सकने की स्थिति में नहीं होते ! इसके लिए आप अपनी अग्नि को दोष दीजिए जो गर्मी के साथ सामांजस्य नहीं रखती और दुर्व्यवहार करने पर उतारू रहती है)।

यदि आपको मंदाग्नि की शिकायत है तो अपच के कारण आपकी जिह्वा विलेपित (परत जम जाना) हो जाती है (एक अन्य लक्षण जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित है) और स्वास्थ्य ठीक न होने का सामान्य अहसास होता है।

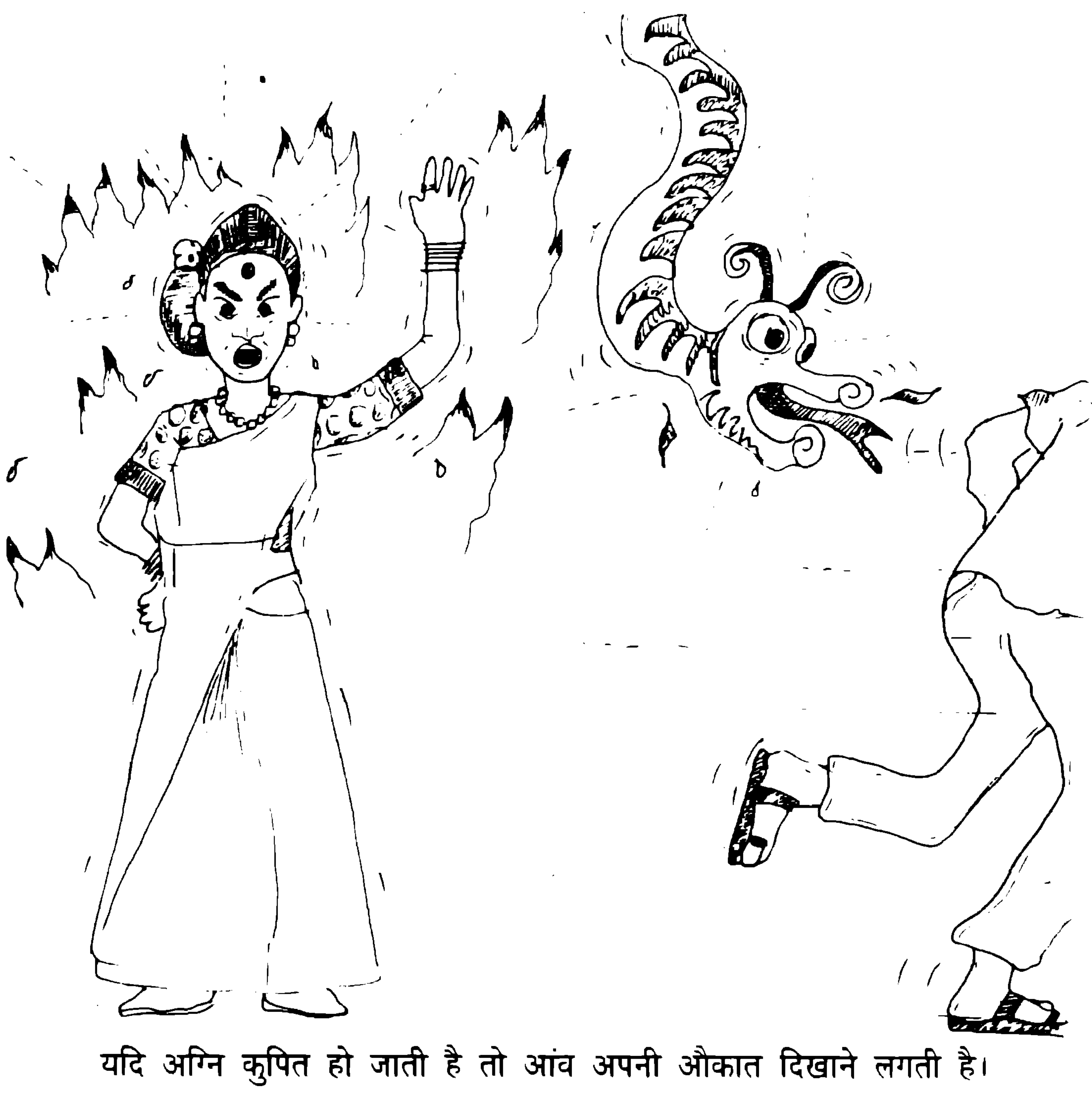
अग्नि, पित्त-दोष की अनियमितता से बहुधा, अधिक हो जाती है। यह तीक्षाग्नि कहलाती है जिससे भोजन ठीक से पचने की बजाय जल जाता है। व्यक्ति को इतनी भूख लगती है कि वह अतिभक्षण करता है और बहुत ही अल्प समय में वह उस अतिभक्षण किए भोजन को पचा लेता है। यह दशा पाचक व्रण और जठर शोथ को जन्म दे सकती है।

वात दोष भी बहुधा अनियंत्रित होकर गड़बड़ी उत्पन्न करता है। इसका स्वरूप अनियमित हो जाता है और तब अग्नि एक दिन क्षीण तो दूसरे दिन प्रबल होकर आंखमिचौनी खेलने लगती है। इसे विषमाग्नि कहते हैं। इससे उदर मरोड़ (ऐंठन), अंत्र शूल, अजीर्ण अथवा पेचिश एवं अन्य संबंधित समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

यदि जठराग्नि असामान्य हो जाती है (जैसा कि अनेक बाह्य कारणों के प्रभाव से होता है) तो अन्य सभी अग्नियां विकृत हो जाती हैं। इससे कमजोरी आ जाती है और चयापचय सामान्यतः मंद हो जाता है।

इससे हम 'पाचन' तथा आहार को दिए गये महत्व को समझ सकते हैं। अब तक आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने आहारनली की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था। इसे भोजन के टुकड़े करके उसे पचाने और भोजन को अवशोषित

करने की एक नली मात्र समझा गया था। इसे ध्यान में रखते हुए हम अब सोचते हैं कि हमारी दृष्टि कितनी अदूरदर्शी थी। आयुर्वेद का यह कहना कितना सत्य था कि अग्नि, ऊतकों, विशेषकर त्वचा के रंग रूप और निरोधीशक्ति से संबद्ध कोशिकाओं की शक्ति को प्रभावित करती है। उदाहरण के तौर पर, आज हमें यह ज्ञात है कि आहारनली ऐसे रस स्रवित करती है जो ऊतकों को बल प्रदान करते हैं। यह बल वह ऐसी जैव कोशिकाओं के रूप में प्रदान करती है जो निरोधक शक्ति और हार्मोनों के लिए अहम भूमिका निभाती हैं और यह निरोधक शक्ति एवं हार्मोन दूरस्थ मस्तिष्क सहित अन्य अवयवों के साथ संचार का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न करने में मदद करते हैं। अंत में, यह स्पष्ट किया जाता है कि जब हम डरे हुए होते हैं अथवा आंतें कमजोर होती हैं अथवा किसी परीक्षा या साक्षात्कार के समय हमें घबराहट हो तो आमाशय में गड्ढा सा क्यों महसूस होता है ? यह सब बल्कि इससे भी अधिक आयुर्वेदिक ग्रंथ में 'अग्नि' संबंधी अध्यायों में बताया



यदि अग्नि कुपित हो जाती है तो आंव अपनी औकात दिखाने लगती है।

गया है। इस प्रसंग में वही आधुनिक चिकित्साशास्त्र जो 'अपच' अथवा 'अपाचन' शब्द को स्वीकार करने में अनिच्छुक था, इस लक्षण को अधिक परिष्कृत भाषा में 'डिस्पेपसिया' (अपच) के नाम से अनिच्छापूर्वक ही सही, स्वीकारने लगा है। जब हम 'डिस्पेपसिया' के कारण पर ध्यान देते हैं तो लगता है कि वह आयुर्वेदिक साहित्य की जैरॉक्स प्रति (हूबहू नकल) हैं। क्या कोई इसे स्वत्वाधिकार का हनन कहना चाहेगा ?

अतएव, अग्नि, वह आग है जो सभी चयापचयी प्रकियाओं की तह में है—चाहे आमाशय में (जठराग्नि) ऊतकों में (धात्वाग्नि) या फिर तत्वों में (पंचभूताग्नि) क्यों न हो। आधुनिक शब्दावली में इसकी व्याख्या किस प्रकार करें ? फिलहाल यह समझना बहुत कठिन है कि वास्तव में इन शब्दों का क्या अर्थ है तथापि अनुभव से ज्ञात होगा कि 'अग्नि' का अस्तित्व है और अनुभव से शनैः शनैः जीवन की इस प्रेरक शक्ति के प्रति विश्वास भी उत्पन्न होगा।

यदि जठराग्नि दुर्व्यवहार करती है तब मानो मानवता का घोर शत्रु सिर उठा रहा है। हम अपनी आहारनली में 'आंव' को जन्म देते हैं। यह ऐसा कारक है जो हमारे स्वास्थ्य का सर्वनाश करता है। भोजन 'सार' में परिवर्तित होने के बजाय आंव में परिवर्तित हो जाता है। आहारनली मानो अनजाने में खल/दुष्ट को आश्रय दे देती है। ऊतकों को सबसे पहले मिलने वाली रसधातु प्रभावित होती है तथा असामान्य हो जाती है और फिर आंव को सभी ऊतकों तक पहुंचा देती है। आंव मानो खुशी-खुशी शरीर में ऊतकों से स्वयं को चिपका लेती है (यह व्यक्ति विशेष की संवेदनशीलता पर निर्भर है) और रोग को जन्म देती है।

अगले अध्याय में हम इस शत्रु 'आंव' के संबंध में चर्चा करेंगे।

6

शत्रु अर्थात् आंव

पिछले अध्याय में हमने आपका परिचय खलनायक 'आंव' से करवाया और हमने 'अग्नि' अथवा जैविक अग्नि से उसके नाजुक और पेचीदा संबंध को देखा। यहां यह उपयुक्त होगा कि हम अग्नि के विषय में थोड़ा फिर विचार कर लें। आप पूछ सकते हैं कि अग्नि की ही यह बार-बार चर्चा क्यों ? इसका सीधा सा उत्तर है। आयुर्वेद में आंतरिक चिकित्सा पद्धति की शाखा को (जिसे, शल्यात्मक विधियों में उपचार करने वाले शल्यचिकित्सों के कार्य के विपरीत, चिकित्सकों द्वारा व्यवहार में लाया जाता है) 'काय चिकित्सा' कहते हैं। 'काय' शब्द की व्युत्पत्ति 'टुकलेक्ट' धातु से है जिसका अर्थ है काया अथवा शरीर। यह उस भोजन से निर्मित होता है जो हम खाते और पचाते हैं तथा जो आत्मसात हो जाता है। इस प्रकार काय चिकित्सा का अर्थ होगा आहार के अनुपयुक्त पाचन और आत्मसात के कारण उत्पन्न रोगों की चिकित्सा। जब शरीर और उसके कार्य हमारे द्वारा लिए गए आहार का उत्पाद या परिणाम हैं तो यह स्वाभाविक है कि सभी (अथवा अधिकतर) बीमारियां भोजन अथवा ईंधन के अनुपयुक्त इस्तेमाल के कारण उत्पन्न होती हैं। इस ईंधन के समुचित ढंग से इस्तेमाल के लिए अग्नि के अतिरिक्त और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है।

यदि अग्नि अथवा ईंधन अपने अपेक्षित स्तर से कम हो तो क्या होगा ? इसका परिणाम होगा आंव की उत्पत्ति। आम बोलचाल की भाषा में आंव की तुलना उस कच्चे अथवा अधपकी खाद्य वस्तुओं की जा सकती है जिसके कण अवशोषित होकर शरीर में गड़बड़ी पैदा कर देते हैं। जब मंदाग्नि होती है (यदाकदा इसे अग्निमान्द्य कहते हैं) तब आंव बन जाती है। यह शरीर में अवशोषित हो जाती है और 'रसधातु' को दूषित कर देती है। 'रसधातु' शरीर में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण और अवयवों को तर रखने की वजह से किसी भी अवयव पर

प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। आंव से उत्पन्न बीमारियों का विस्तार तीव्र किस्म के अतिसार, पेचिश और ज़्वर जैसे रोगों से लेकर गठिया के संधिशोथ, व्रणात्मक वृहदांत्रशोथ, उत्तेज्य आंत्र संलक्षण, मधुमेह, रक्तक्षीणता, यकृत-सूत्रण जैसे रोगों तक व्याप्त है। किसी को होने वाले रोग आनुवंशिक प्रवृत्ति तथा ऊतकों की मौलिक शक्ति जैसे अनेक संबद्ध कारकों द्वारा नियंत्रित होते हैं।

जब आंव अवशोषित हो जाती है तो वह शरीर के स्रोतों को अवरुद्ध कर देती है। इससे संचार में बाधा पड़ती है और आंव 'रास्ता रोको' वाले आंदोलन की भांति व्यवहार करती है। दोष, विशेषकर वात दोष जिसका काम आदेश देना और अफसरी करना है, पूर्णतः दूषित हो जाता है।

मंदाग्नि और आंव बनने की प्रारंभिक अवस्था में, शरीर, भूख न लगने, मितली आने, वमन होने जैसे लक्षणों के माध्यम से व्यक्ति को चेतावनी दे देता है। कदाचित् यह खतरे की घंटी होती है जो व्यक्ति को अपने आहार में परिवर्तन करने अथवा अग्नि का संतुलन बिगाड़ने वाली आदतों को सुधारने के लिए सावधान करती है। यदि इन लक्षणों की उपेक्षा की जाये अथवा उपचार गलत हो जाये तो आंव अवशोषित हो जायेगी और 'रसधातु' दूषित हो जाएगी।

यह आंव है क्या ? आज हमारे पास इस विषय में काफी आश्वस्त करने वाली जानकारी है कि शरीर आहार को किस प्रकार झेलता है और हम कुछ आत्मविश्वास के साथ कह सकते हैं कि आंव पोषण की दृष्टि से भले ही कोई महत्व न रखती हो तथापि प्रतिरोधन की दृष्टि से प्रबल है क्योंकि इसकी निष्पत्ति भलीभांति न पचे भोजन से होती है। ऐसा भोजन ऊतकों के पोषण में कोई योगदान नहीं देता। फिर भी आंव सशक्त रोग प्रतिरोध क्षमता को जन्म देती है क्योंकि वह शरीर के लिए बाह्य वस्तु है। इसके परिणामस्वरूप शरीर की प्रतिरक्षा कोशिकाओं द्वारा रोग प्रतिकारक प्रतिपिंडों का जन्म होता है। तब आंव और रोग प्रतिकारकों के बीच प्रतिरक्षा सम्मिश्र का निर्माण करने हेतु क्रिया होती है, जो एक अत्यंत घातक संयोजन होता है। यह ऊतकों में जमा हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब यह संधियों के चारों ओर मौजूद श्लेषिक ऊतकों में जमा हो जाता है तब यह प्रदाहक प्रतिक्रिया को जन्म देता है—श्वेत रक्त कोशिकाओं के समूह को पता चलता है कि कोई विजातीय उनके द्वार पर है तब वे अपनी उपलब्ध शक्ति के बूते पर उस पर आक्रमण करती हैं। ये हथियार जो रोगाणुओं से लड़ने के लिए होते है, मूलतः विनाशात्मक रसायन होते हैं जिनकी बनावट रोगाणुओं तथा अन्य आक्रमक जीवों को समाप्त करने के लिए होती है। संधियों (जोड़ों) पर ये सामान्य ऊतकों को नष्ट कर देते हैं जिससे असह्य दर्द और गंभीर शोथ हो जाता है।

आयुर्वेद आंव की समस्या से त्रिशूलीय विधि से लड़ता है : इसका प्रथम प्रतिमान है कि उपचार से रोकथाम बेहतर है। यदि आंव पहले ही बन चुकी है और यह प्रतिमान असफल रहता है तब आंव को पचाने वाली या शरीर से बाहर करने वाली औषधियां अथवा आहारिक वस्तुएं दी जाती हैं। न पचने की स्थिति में (वमन अथवा विरेचन द्वारा—जोकि व्यक्ति की कफ या वात प्रकृति पर निर्भर करता है) आंव को शरीर से बाहर निकालने की स्थिति उत्पन्न की जाती है। तीसरे, सर्वाधिक बिगड़ी हुई स्थिति में, यदि आंव अवशोषित हो चुकी हो तब ऊतकों को, जमा आंव के आक्रमण को झेलने हेतु प्रतिरक्षा शक्ति प्रदान करने की औषधियां दी जाती हैं।

रोजमर्रा की जिंदगी में आंव की रोकथाम कैसे की जाए और 'तबियत ठीक नहीं है' से लेकर 'गठिया' तक की सभी प्रकार की समस्याओं से किस प्रकार जादुई ढंग से मुक्ति पाई जाये ? इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि एक बार आंव बनकर पुराने रोग की समस्या बन गयी है और आंवावस्था गंभीर रोगोपचार का रूप ले लेती है तो उस अवस्था में यहां, बताई गयी व्यवस्था सर्वोत्तम है।

हमें प्रकृति के सीधे सरल सिद्धांत अपनाने हैं। आहारातिरेक से अथवा पहले लिए गये आहार के पचने से पूर्व खाने से बचें। यह ऐसी बात है जिसे अधिकतर माताओं और अति उत्साही दादी-नानियों को स्मरण रखना चाहिए। बच्चों को मात्र इसलिए जबरन नहीं खिलाना चाहिए क्योंकि उनके नाश्ता करने, चाय पीने अथवा दोपहर या शाम के भोजन का समय है। या फिर छोटे बच्चे को (जब तक कि चिकित्सक ने ही विशेष सलाह न दी हो) भी प्रत्येक दो या ढाई घंटे बाद कुछ खिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। बच्चे को खाना मांगने दीजिए; वह जानता है कि उसे कितना खाना चाहिए और कब चाहिए। एक अन्य सावधानी यह बरतनी चाहिए कि 'अग्नि' को प्रतिदिन समुचित प्रतिपाद्य ईंधन ही दिया जाना चाहिए। इसमें कोई तुक नहीं है कि अग्नि रूपी इस तुनक मिजाज महिला को एक दिन तो जमकर भोजन करवा दिया और दूसरे दिन पूरा व्रत करवाकर पछताने और पिछली कसर निकलने की स्थिति में डाल दिया जाये ! प्रत्येक व्यक्ति को सहज रूप से यह जानना चाहिए कि उसका शरीर क्या बर्दाश्त नहीं कर सकता; यहां तक कि शीतल-पेय और आइसक्रीम जैसे ठंडे पदार्थ भद्र 'अग्नि' को निष्क्रियता की ठंडक में जमा सकते हैं। आयुर्वेद में कुछ ऐसे आहारिक पदार्थों का उल्लेख हुआ है जो परस्पर-विरोधी होते हैं और यदि साथ-साथ खाए जायें तो आंव को जन्म दे सकते हैं। उदाहरण के लिए, आम और केले के साथ दूध, दही अथवा

छाछ (मट्ठा) मांस, विशेषकर मुर्गे के साथ दूध अथवा दही का निषेध है। चीनी, गुड़ या शीरे तथा दूध, खोये (खीर जैसी वस्तुओं सहित) के साथ मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। यद्यपि शहद स्वास्थ्यवर्धक तत्व है तथापि दूध या गर्म पानी के साथ नहीं लेना चाहिए। दूसरा संयोजन, आश्चर्यजनक रूप से ऐसा लोकप्रिय प्रचलन है जिसे दुबला होने की सनक से प्रभावित लोग आजमाते रहे हैं। दुर्भाग्यवश इसके प्रयोग से आंव अपना हानिकारक रूप दिखाएगी और अपच (रोग) उनका पीछा करता रहता है। 'इडली' और 'डोसा' जैसे किण्वित (खमीर वाले) खाद्य पदार्थ अपने आप में विरोधी नहीं हैं। फिर भी, जैसा कि मानूसन अथवा गर्मी के मौसम में होता है या फिर बड़ी उम्र के लोगों में अथवा यदि कोई गंभीर बीमारी अथवा कैसी भी बीमारी के बाद स्वास्थ्य लाभ कर रहा है, उसमें 'अग्नि' मंद होती है और ऐसे खाद्य पदार्थ 'अग्नि' पर और भार डालेंगे और इससे अनियमित पाचन और आंव बनने की स्थिति उत्पन्न होगी।

आंव के उपचार के लिए प्रबोधित (निगरानी युक्त) व्रत अथवा 'लंघन' निर्धारित विधि है। 'लंघन' आंव बनने को रोकता है और बनी हुई आंव को पचाता है। उपवास की अवधि के दौरान अग्नि को पचाने के लिए भोजन प्राप्त नहीं होता इसलिए वह पहले के बकाया भोजन को पचाने का काम करती है—कुछ उसी प्रकार जैसे छुट्टी के दिन कार्यालय जाकर अपनी मेज का बकाया काम निपटाना ! इसके पीछे कदाचित् उसी प्रकार एक अच्छा उद्देश्य था कि हम साप्ताहिक रविवार को अपने दिमाग और शरीर को पुनः ऊर्जा से भर सकें; आयुर्वेदिक चिकित्सकों ने स्वस्थ रहने के लिए पखवाड़े (दो सप्ताह) में एक बार उपवास करने की सिफारिश की। व्यापक स्तर पर स्वीकार किए जाने के लिए इसे लोगों के समक्ष धर्म का रूप प्रदान करके प्रस्तुत किया गया और इस प्रकार एकादशी अथवा 'संकाष्टि' व्रत का जन्म हुआ। ये दोनों दिन 'शुभ' माने जाते हैं। दुर्भाग्यवश, व्रत तोड़ते समय मनपसंद स्वादिष्ट भोजन के लालच में विगत वर्षों में इस प्रथा में विकृति आ गयी। इसीलिए कम से कम अधिकांश महाराष्ट्रीय परिवारों में तो 'व्रत' का अर्थ है, सागू, मूंगफली या मीठा आलू और जिमींकंद अथवा यहां तक कि छुहारे युक्त विशेष खाद्य पदार्थ बनाना। काफी मात्रा में बादाम, काजू और मूंगफली का सेवन किया जाता है जो पाचन की दृष्टि से भारी होते हैं और किसी भी रूप में ये चीजें 'अग्नि' को विश्राम नहीं दे सकती हैं। व्रत के दौरान हम मन को यह समझाकर कि व्रत में इसकी तो अनुमति है प्रायः दूध और फल का सेवन करते हैं। जैसा कि आपने देखा, आंव के क्षेत्र में ये वर्जित हैं ! इस प्रकार उपवास (सदैव इस प्रच्छन्न आशंका से घिरे कि पालन न

करने पर दैवी प्रकोप/दंड मिलेगा) द्वारा 'अग्नि' को विश्राम देने का अच्छा इरादा छद्मावरित हो गया। आजकल प्रचलित 'व्रताहार' पहले से अत्यधिक व्यस्त 'अग्नि' को समर्पण कर देने के लिए विवश करते हैं और आंव को खुलकर अपनी मनमानी करने का अवसर प्रदान करते हैं !

आप रोष व्यक्त करते हुए पूछ सकते हैं कि उपवास करने का स्वस्थ ढंग क्या है अर्थात् भद्रेअग्नि को किस प्रकार विश्राम दिया जाये ? छाछ के साथ, फुलाए हुए, भुने हुए अनाज सबसे बढ़िया होते हैं। यद्यपि धर्म के अनुसार मसालों का उपयोग निषिद्ध है तथापि अग्नि-दीपन करने हेतु बहुत अल्प मात्रा में मसाले (जैसे सोंठ, हींग, काली मिर्च, हल्दी या अजवायन) शरीर के लिए उत्तम होंगे। चिकित्सा की दृष्टि से उपवास में हरड़ को शामिल करने से उत्तम कुछ नहीं है। इससे आंव तीव्रता से पचती है। यदि आंव के लक्षण मौजूद हों तो वह चिकित्सीय उपवास न केवल नयी आंव बनने से रोकने में मदद करेगा बल्कि 'अग्नि' को पहले बनी हुई आंव का निपटारा करने में भी सहायक होगा।

चिकित्सीय उपवास के बाद जब 'अग्नि' फिर से अपना काम शुरू करती है तो व्यक्ति इसका तुरंत आभास कर सकता है। उसे पहले से बेहतर लगने लगेगा, जीभ पर जमी हुई परत ओझल हो जायेगी और भूख फिर लगने लगेगी। किंतु सावधान रहिए ! यही वह समय होता है जब नियंत्रण रखने की जरूरत होती है। यह स्मरण रखें कि अग्नि तगड़ी मार खाने के बाद स्वयं स्वास्थ्य लाभ कर रही है; पूरा, वह भी मसालेदार भोजन झेलना उसके लिए संभव नहीं है। उसकी अपेक्षा, उपवास (जैसा कुछ-कुछ अनशन करने वाले अपनी मांगें मान लिए जाने के बाद करते हैं) फलों के जूस के साथ तोड़ना चाहिए। एक बार अग्नि दीपन हो गया तो फिर व्यक्ति आधे-ठोस आहार से पूरे ठोस आहार पर आ सकता है। ठीक यही कारण है कि आपरेशन अथवा प्रसव के बाद जब अग्नि क्षीण होती है तो व्यक्ति जोरदार भोजन नहीं करता। सामान्य रूप से व्यक्ति को शीतल जल (जो अग्नि लोप में सहायक होता है) का उपयोग न कर, गुनगुने पानी का उपयोग करना चाहिए। उपवास की अवस्था के बाद, आहार में (पूर्ण रूप से गेहूं की हल्की फूली हुई) चपातियां, चावल, दाल, (जहां तक हो सके, मूंग अथवा मसूर की दाल) तथा सूरन, भिंडी, लौकी, तोरई, करेला (विशेषकर कडुवी किस्म) अथवा सहजन जैसी सब्जियां होनी चाहिए। पकाने के लिए अरंडी का तेल लाभदायक होता है। 'अग्नि' के लिए अनुकूल/अच्छे सिद्ध होने वाले मसाले सोंठ, लहसुन, काली मिर्च, दालचीनी, इलायची अथवा लौंग हैं। आहार में सेव, अंजीर, पपीता, चीकू, सीताफल (शरीफा) अथवा अनानास जैसे फलों का समावेश अच्छा है।

आहार के पूर्ण संसाधन को सुविधाजनक बनाने के लिए अग्नि का दीपन अपेक्षित है। इसके लिए सूरन जैसी सब्जियां, फल और मसाले अग्नि-दीपन में और भोजन के पाचन में सहायक होते हैं। घर में बनाया हुआ घी उत्तम होता है। शोधित मक्खन से काम नहीं चलेगा। इसका उपयोग तो चावल और चपातियों में अल्प-मात्रा में ही हो सकता है। इसे यदि अधिक मात्रा में उपयोग में लाया जाए या फिर अधिक मात्रा में घी में तली चीजों का सेवन किया जाये तो घी भी हानिप्रद सिद्ध होगा।

यदि आंव हाल ही में बनी है तो उसे शरीर द्वारा प्रतिरक्षा के रूप में अक्सर अपनायी जाने वाली क्रिया—वमन द्वारा दूर किया जा सकता है। यह बलात् अथवा अस्वाभाविक वमन का आधार है जो पाचन प्रणाली को स्वच्छ करके बनी हुई आंव को दूर करता है ताकि पाचन प्रणाली बाद में किए गये आहार का उचित ढंग से समाहार कर सके। लंबे समय से स्थित आंव का उपचार कठिन है और उसके लिए पंचकर्म और चिकित्सा अपेक्षित है।

किसी रोग की चिकित्सा में आयुर्वेद द्वारा आहार पर इतना जोर क्यों दिया जाता है, यह बात अब आसानी से समझ में आ जानी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति आयुर्वेद का गंभीरता से अध्ययन करना चाहता है तो रोगोपचार के लिए उसका प्राथमिक उद्देश्य पाचन (अग्नि) और आंव के पाचन को ठीक करना होना चाहिए। आंव बनने के आरंभिक लक्षण अपच से मिलते-जुलते होते हैं। आज अनेक पाचक एन्जाइम युक्त औषधियां बाजार में दवा-विक्रेताओं के काउंटर पर उपलब्ध हैं जो इन लक्षणों से मुक्ति दिलाने का दावा करते हैं (जो अतिआहार के कारण उत्पन्न होकर अग्नि को मंद करते हैं)। दूसरी ओर आयुर्वेद जड़ी-बूटी व चिकित्सकीय प्रक्रियाओं को निर्धारित करता है जो न केवल आंव को निष्क्रिय करता है बल्कि मंदाग्नि की समस्या का भी निराकरण करता है। यह और आंव नहीं बनने देता। ध्यान में रखने की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि केवल जठराग्नि ही वह अग्नि नहीं है जो गड़बड़ी उत्पन्न करती हैं, धात्वाग्नि और पंचभूताग्नि भी तो हैं ? समुचित चिकित्सीय उपायों द्वारा इनका प्रशमन होना भी अपेक्षित है।

जब धात्वाग्नि और पंचभूताग्नि मंद होती हैं तब इसकी पहचान कर पाना सरल कार्य नहीं है। वास्तव में इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। धात्वाग्नि का अपने आप उपचार करने से बचना चाहिए। अति-उत्साहपूर्ण उपचार की प्रवृत्ति के प्रति सावधानी आवश्यक है क्योंकि डर यह है कि इससे अग्नि-दीपन के प्रयास में कहीं अग्नि का अति-दीपन न हो जाये।

वर्तमान में अल्पाहार द्वारा वजन घटाने के जो उपाय किए जा रहे हैं उन

पर ध्यान देने की जरूरत है। इस विधि में जो आहार कफ-वात-पित्त के संदर्भ में संतुलित नहीं होते, उन्हें नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि वे दोष-धातु-मल के सामंजस्य को अव्यवस्थित कर सकते हैं और आगे चलकर रोगों को जन्म दे सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति लंबे समय तक केवल सलाद को आहार के रूप में अपनाकर निर्भर रहना चाहता है या फिर विरेचकों (यहां तक कि जड़ी-बूटी किस्म का विरेचक) का उपभोग करता है तो स्नेहक और कफ तत्वों की भारी कमी होगी जिससे आहारनली पर्याप्त क्षीण हो जायेगी जिसके परिणामस्वरूप अजीर्ण उत्पन्न होगा।

आंव मनुष्य की पक्की शत्रु है जिससे प्लेग की भांति बचना चाहिए। जबान पर परत, अनिश्चित शूल और दर्द, आलस्य भाव और 'ठीक नहीं लग रहा' जैसी स्थितियों द्वारा चेतावनी देकर यदि यह अपने मौजूद होने का अहसास करवाती है जो व्यक्ति को आंव से यह कहते हुए मुक्ति पाने के लिए तत्पर होना चाहिए, "बी गौन यू; ओल्ड फो।"

7

आपकी शारीरिक संरचना : प्रकृति

कितनी बार आप अपने मित्र के साथ तफरीह और मौज-मस्ती के लिए धूप में घर से बाहर गये होंगे और उस दिन की सार्थक खरीदारी के बाद भयंकर सिर-दर्द से पीड़ित घर लौटे होंगे ? किंतु आपका मित्र उस धूप से वैसे ही अछूता रहा जैसे आप अपने उसी दिन खरीदे हुए वस्त्रों से अनछुए रहे। इसके विपरीत ऐसे भी अवसर आए होंगे जब आपका बच्चा आइसक्रीम की दुकान पर आइसक्रीम खाने के बाद गले में दर्द से पीड़ित हुआ हो जब कि उसके सभी दोस्त सजी हुई खाने की बाकी चीजों में से भी अधिकतर मजे से साफ कर गये हों। इसके पीछे क्या रहस्य है ? क्या आपको इस बात से कभी आश्चर्य नहीं हुआ कि भिन्न-भिन्न लोगों पर एक-सी पर्यावरणात्मक परिस्थितियों में अलग-अलग तरह से क्यों प्रतिक्रिया होती है ?

आयुर्वेद में प्रकृति की संकल्पना में इसकी व्याख्या मिलती है। व्यक्तियों को समूहों में वर्गीकृत करने की इस प्रणाली में न केवल बीमारी के प्रति अति-संवेदनशीलता जैसी बातों की व्याख्या मिलती है बल्कि ऐसे सिद्धांतों की भी बात की गयी है जो स्वास्थ्य और चिकित्सा पद्धति की पंसद और किसी रोग विशेष के पूर्वानुमान से संबंधित हो। दुर्भाग्यवश यह स्वच्छ और परिमाणांकनीय प्रणाली नहीं है जो नैदानिक परिशुद्धता के साथ 'प्रकृति' के विषय में भविष्यवाणी करने में आपकी कुछ मदद कर सके। इसकी बजाय यह उस आनुवंशिक संरचना का प्रतिनिधित्व करती है जिसके साथ कोई व्यक्ति जन्म लेता है। इस प्रयास को यथार्थपरक बनाने हेतु अनेक असफल प्रयास किए गये हैं। इस अध्याय के अंत में दी गई तालिका व्यक्ति को अपनी प्रकृति जानने में सहायक हो सकती है। कुछ प्रश्नों के सही उत्तर ढूंढ़ने में कठिनाई आयेगी, अतः ऐसी स्थिति में प्रकृति संकल्पना का सरलीकरण प्रायः हताश करने वाला अनुभव सिद्ध होता है।

आयुर्वेद विज्ञान काफी हद तक प्रकृति की पहचान करने में विश्वास करता है। आयुर्वेदिक चिकित्सक इस प्रकृति परीक्षण के लिए अपनी विधि स्वयं विकसित कर लेते हैं और न्यूनाधिक रूप में यह एक कौशल है जिस पर कई वर्षों में जाकर महारत आती है; इसे किसी ग्रंथ में पढ़कर अभ्यास में नहीं लाया जा सकता। स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक, आयुर्वेद में वर्णित आहार के साथ-साथ दैनिक एवं ऋतुपरक जीवनशैली का समंजन व्यक्ति विशेष की प्रकृति पर आधारित है। ऐसा किस प्रकार होता है ? रोगों की रोकथाम के लिए हम अपनी जीवनशैली में किस प्रकार परिवर्तन कर सकते हैं ?

हमने प्रारंभिक अध्यायों में त्रि-दोषों के महत्व को समझा जो शरीर की दैनिक गतिविधियों को नियंत्रित करते हुए सरकार की भांति कार्य करते हैं। ये दोषों के सुंदर सामंजस्य के प्रभारी हैं ताकि संतुलन बना रहे और अधिकतम कार्य हो सके। जिस प्रकार तीन दोष होते हैं उसी तरह प्रकृति के तीन महत्वपूर्ण प्रकार हैं जो किसी दोष विशेष की प्रधानता को प्रतिबिंबित करते हैं। दोषों का व्यवहार और प्रकारान्तर से 'धातुओं' और 'मल' का व्यवहार उनमें से एक की आनुवंशिक प्रधानता पर निर्भर करता है। इस प्रकार उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति पित्त प्रकृति की प्रधानता को लेकर जन्म लेता है, और उसका आहार पित्त की अग्नि को भड़काता है तो उसके पित्त के अव्यवस्थित होने से उत्पन्न होने वाले रोग का शिकार होने की आशंका रहती है। दूसरी ओर, यदि किसी की प्रकृति कफोन्मुख है तब उसे वह आहार हानि नहीं पहुंचाता, अपितु वह उपकारी निष्क्रिय कफ की प्रतिपूर्ति करता है।

स्वयं अपनी 'प्रकृति' की पहचान करके अपनी कमजोर बातों का सही पता लगाया जा सकता है और प्रकृति की इच्छानुरूप शांति से रहा जा सकता है। कुछ ऐसे सरल नियम हैं जो आगे चलकर सहायक सिद्ध होते हैं। आनुवंशिक रूप से प्राप्त होने के कारण जब हमारा 'दोष' प्रधान रहता है, तब दोष आहार और पर्यावरण के संदर्भ में अपनी कुछ शर्तें रखता है। यदि हम इसे पहचान जाते हैं और उसको तरंगित होने देते हैं तो हमें उन छोटी-मोटी स्वास्थ्य संबंधी मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़ेगा जो हमारे अधिकतम कार्य निष्पादन में विघ्न बनती हैं। सामान्यतः परिवर्तित दोष अपने नियंत्रण स्थल पर प्रत्यक्ष हो जाएगा, अर्थात् कफ श्वसन प्रणाली के माध्यम से अपनी अप्रसन्नता जाहिर करेगा तो पित्त रक्त के माध्यम से, और त्वचा एवं वात जैसी उपधातुएं सामान्यतः आहारनली के माध्यम से। सामान्यतः यदि किसी दोष विशेष में वृद्धि होती है तो उसे घटाने का प्रयास किया जाना चाहिए किंतु जरूरत से ज्यादा घटाना भी नहीं चाहिए। कभी-कभी

दोहरे प्रकार की 'प्रकृति' में जो 'दोष' क्षीणतम हो तो उसमें संतुलन स्थापित करने के लिए उसमें वृद्धि करना बेहतर होता है बजाय इसके कि प्रधान दोषों में से किसी को भी घटा दिया जाये। उदाहरण के लिए वात-पित्त प्रधान प्रकृति वाले व्यक्ति में संतुलन बनाए रखने के लिए 'कफ' को बढ़ाया जाना चाहिए।

एक आम सर्वेक्षण से पता चलता है कि 'प्रकृति' सात प्रकार की होती है जो दोष की प्रबलता पर निर्भर करती है। प्रकृति के प्रकार हैं—वात, पित्त, कफ, वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-कफ (इन्हें पढ़ने के लिए परस्पर परिवर्तित करके भी देखा जा सकता है—पित्त-वात, कफ-वात और कफ-पित्त यदि दोष की प्रबलता ऐसा संकेत देती हो) तथा अंत में वात-पित्त-कफ अथवा समप्रकृति।

आइये, अब हम प्रत्येक 'प्रकृति' की विशेषताओं का अध्ययन करें।



वात प्रकृति—वायु सी तेजी।

वात प्रकृति

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि 'वात दोष' की रचना वायु और आकाश से हुई है, तथा यह शरीर में गति को नियंत्रित करता है और यह भी कि इसका स्थान अधिकारी का है—वात प्रकृति वाले व्यक्ति में इन सभी की पहचान की जा सकती है। ऐसा व्यक्ति अधिक सक्रिय होगा, वह एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं बैठ सकता। वह सारा समय नये-नये विचारों का प्रतिपादन करता रहता है जिनमें कुछ विचार अस्पष्ट होते है। ऐसे व्यक्ति में तीव्र ईर्ष्या की भावना रहती है किंतु ऐसा प्रबल ईर्ष्या का दौरा कब पड़ेगा इसके विषय में नहीं कहा जा सकता। ऐसा व्यक्ति प्रायः अनियमित और सनकी होता है। ऐसा व्यक्ति कब्ज का शिकार रहता है। उसके शरीर में मौजूद वायु त्वचा को शुष्क कर देती है, वैसे भी ऐसे व्यक्ति की त्वचा बहुत पतली और कमजोर होती है। व्यक्ति के केश और नाखून शुष्क रहते हैं (कल्पना करके देखें कि सर्दी के दिनों में वात शरीर के साथ क्या करती है—वह उसे ठंडा और शुष्क कर देती है)। वात प्रकृति वाले लोगों की एक विशेषता यह है कि उनके हाथों में नसें फूली हुई और सुप्रकट होती हैं। ऐसे लोग तगड़े नहीं होते और शारीरिक श्रम करने से झिझकते हैं किंतु एक स्थान पर नहीं टिकते। वे इस प्रकार सक्रिय रहते हैं मानो उनके पैरों में स्प्रिंग लगे हों और दुनिया भर में नाचते फिरते हैं। हालंकि वे बातों को जल्दी समझते हैं तथापि बहुधा स्मृति उनका साथ नहीं देती। अनिंद्रा रोग अथवा कम नींद लेना ऐसे लोगों की पहचान है। उनके मन में यह भाव रहता है कि वे सारी दुनिया के मालिक हैं (स्मरण रहे कि 'वात' अधिकारी है !)। यहां तक कि जब वे सोते हैं तो उनकी आंखें खुली रहती हैं। वे जीवन में आम शिष्टाचार की भी उपेक्षा करते हैं और अपने प्रति की गयी भलाई के लिए आभार भी नहीं मानते (यह सोचकर ऐसा तो उनके साथ होना ही था)।

वे मित्र कम बनाते हैं और उनकी मित्रता गहरी और दीर्घकालीन नहीं होती। वात प्रधान लोगों के व्यक्तित्व में वफादारी महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में नहीं उभरती ! अपने न समझे जा सकने वाले व्यवहार वाले ऐसे व्यक्तियों की आहारनली अनियमित रहती है। कभी तो यह इतनी सक्रिय रहती है कि भारी से भारी भोजन भी पचा लेती है किंतु अन्य अवसरों पर भोजन से अपच हो जाता है। कभी दस्त लग सकते हैं तो कभी अजीर्ण की शिकायत हो जाती है। गैस का प्रकट रूप से पता चलना आम बात होती है और सर्दी को बिल्कुल बर्दाश्त न कर पाने की विशेषता तो ऐसे लोगों में निश्चित ही है। (स्मरण रहे ऐसे लोगों के

शरीर में पर्याप्त शीतल शुष्क वायु ध्वनि करती है)। 'दोषों' से संबंधित अध्याय में, हमने 'वात दोष' में वृद्धि या कमी करने वाले कारकों पर पहले ही विचार कर लिया है। वात प्रकृति वाले व्यक्ति को संकोचक और कड़वे पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए। (यह न भूलें कि आयुर्वेद के अनुसार शहद का स्वाद संकोचक होता है), शुष्क हल्के नाश्ते से और देर रात के भोजन से भी बचें।

'वात' का वास मुख्यतः आहारनली में है, अतः वह अपनी नाराजगी वहीं व्यक्त करता है। सामान्यतः तैलीय, चिकने खाद्य पदार्थ दूषित 'वात' को मंद करते हैं। लवण एवं मसाले युक्त खाद्य पदार्थ भी यही करते हैं। दादी-नानी ने सदैव सिर में तेल लगाने की जो सलाह दी वह न केवल बालों को स्वस्थ और चमकीला बनाए रखने के लिए बल्कि इसलिए भी कि इससे मन शांत और प्रसन्न रहता है। मूलतः उन्होंने जो किया वह 'वात दोष' को पूर्णतः संतुष्ट रखने के लिए !

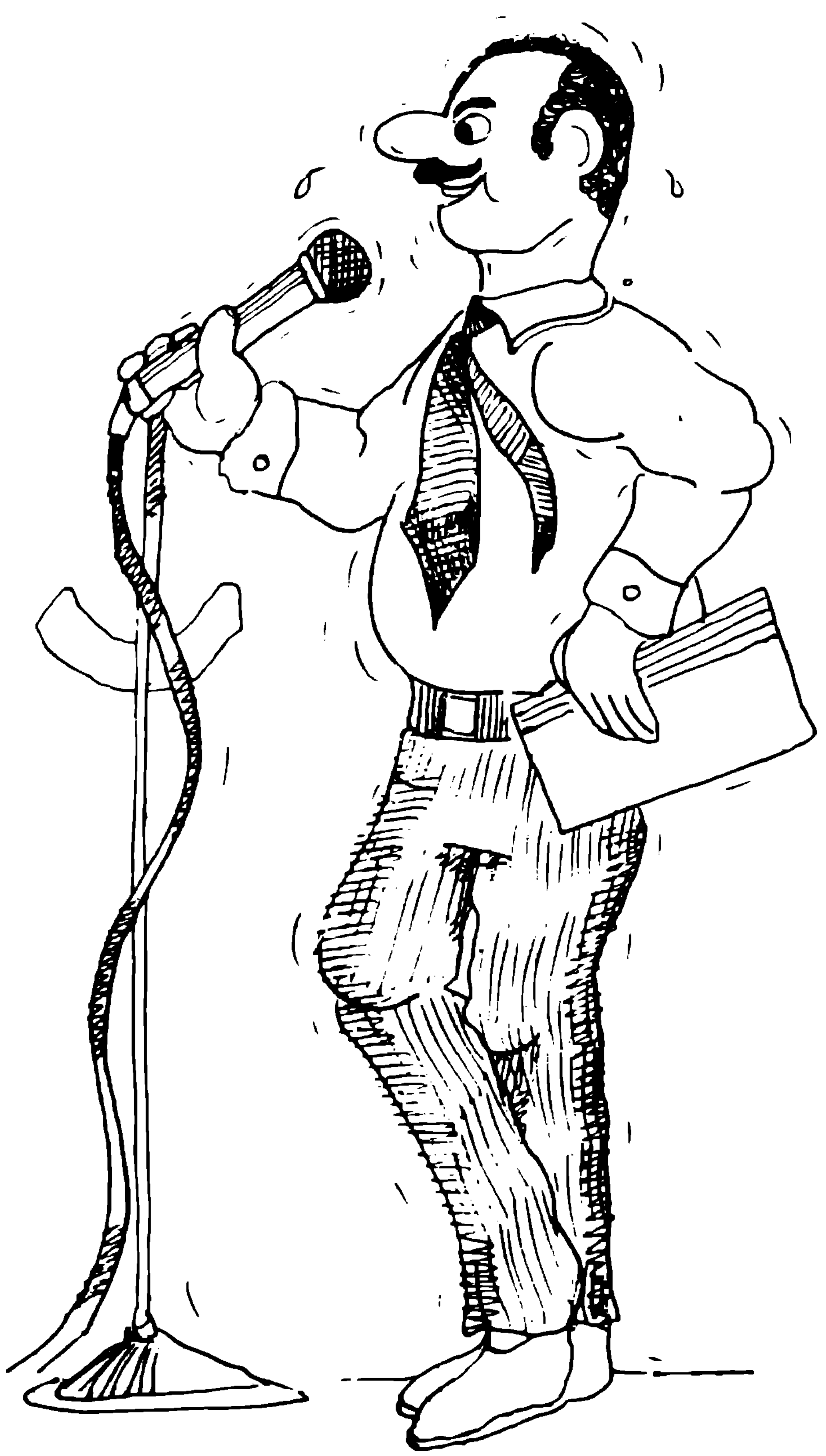
वृद्धावस्था में 'वात दोष' शरीर क्रियात्मक रूप से बढ़ जाता है और तब 'वात प्रकृति' वाला व्यक्ति इस स्थिति में बहुत परेशान होता है क्योंकि साथ में वृद्धावस्था के रोग भी सिर उठाते हैं। अतः देर रात तक जागरण और अनियमित जीवनशैली से बचना चाहिए। जब कोई एक्ज़ीक्यूटिव (कार्यपालक) सारी दुनिया में घूमता-फिरता है और तैलीय पदार्थों तथा मादक पेय का सेवन करता है तो वह गैसीय प्रसार और मनहूस छाती शूल के साथ-साथ अनिश्चित शूल और दर्द से पीड़ित रहने लगता है। परिष्कृत परीक्षणों पर पैसा खर्च करना वैसा ही होता है जैसे भूसे के ढेर में सुई को खोजना ! कभी-कभी ऐसे परीक्षणों से कुछ भी पता नहीं चलता है और तब व्यक्ति से यही कहा जाता है कि वह अत्यधिक तनावग्रस्त है और उसे विश्राम करना चाहिए। करने की अपेक्षा कहना सरल है। समझदारी इसी में है कि हम यह महसूस कर लें कि बहुत से लक्षण कुपित 'वात दोष' के कारण हैं जिनके लिए विशेष उपचार की आवश्यकता है न कि प्रत्यम्ल और प्रशान्तक औषधि खाने की। स्मरण रहे कि स्वास्थ्य के प्रति सजग वात प्रकृति के व्यक्ति के लिए सलाद का भोजन पूर्ण भोजन नहीं है। यह वजन कम करने में तो सहायक हो सकता है किंतु इससे पीठ दर्द, संधि-शूल एवं जोड़ों की चटकन जैसे कष्ट जन्म लेंगे जो वात के दूषित होने के स्पष्ट संकेत हैं। पंचकर्म चिकित्सा के अनुसार वात-प्रकृति वाले व्यक्ति को वस्ति अथवा औषधि-मिश्रित एनिमा से आराम मिल सकता है।

वात प्रकृति का बच्चा कभी संतुष्ट नहीं होता। वह हमेशा चिड़चिड़ा रहता है और देखने में चीमड़ लगता है। ऐसे बच्चे में अतिसार (दस्त) का शिकार होने

की आशंका रहती है और दांत निकलते समय पेट फूलता है अथवा पतले दस्त लग जाते हैं।

पित्त प्रकृति

जैसा कि हमने प्रारंभ में देखा, पित्त में अग्नि और जल का समावेश है। यह ऊष्मा को मूर्त रूप प्रदान करता है और शरीर की अपचयी गतिविधियों को प्रतिबिंबित करता है। जैसा कि पहले बताया गया है रक्तधातु में पित्त का स्थान



पित्त प्रकृति—ऊपर की ओर अग्रसर।

है अर्थात् यहां पित्त संजीवित होता है और त्वचा रक्तधातु की उपधातु है। इस प्रकार पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति की त्वचा में चमक होती है, त्वचा नर्म और बाल चिकने होते हैं। युवावस्था में पित्त प्रधान होता है इसलिए पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति अपने युवा होने का साक्ष्य दर्शाता है। दुर्भाग्यवश 'पित्त' क्रियाशीलता के अतिरेक से, समय से पूर्व झुरियां पड़ सकती हैं और समय से पूर्व बाल सफेद हो सकते हैं—उसी तरह जिस तरह 'दीदी समय से पहले आंटी' बन जाती है, पुरुषों में पित्त प्रकृति 'गंजेपन' के रूप में प्रकट होती है। ऐसे व्यक्तियों में दूसरों की अपेक्षा चकत्ते और तिल अधिक होते हैं। उनकी हथेलियां और तलुए सामान्यतः उष्ण और पसीने से नम रहते हैं (मानो शरीर अतिरिक्त गर्मी से मुक्त होने की कोशिश कर रहा हो) और उनकी जीभ लाल रहती है।

ऐसे लोग प्रतिभाशाली होते हैं और उनकी आंखों में चमक होती है। स्मरण शक्ति तीव्र होती है और वे सामान्यतः बहादुर और साहसी होते हैं। उनके शरीर में मौजूद ऊष्मा उनके तुरंत क्रोधित होने की प्रवृति में झलकती है, वे उतनी ही जल्दी शांत भी हो जाते हैं (मानो पित्त का घटक 'जल' 'अग्नि' को भड़कते ही शांत कर देता है)। ऐसे लोगों में यथातथ्य तीक्ष्ण तर्कशक्ति होती है और स्वयं से संबंधित विषय पर अधिकार होने से प्रत्येक स्थिति पर नियंत्रण रखने में समर्थ होते हैं। उनमें थोड़ा जोर से बोलने की प्रवृति होती है किंतु उनकी बात फिर भी इसलिए सुनी जाती है क्योंकि वे जो कुछ कहते हैं उसमें सार होता है। ऐसे लोग बहुत ही अहम्‌वादी होते हैं।

प्रबल पित्त दोष के कारण, ऐसे लोग भोजन तुरंत पचा लेते हैं और खाने की इच्छा करने लगते हैं। यद्यपि वे खाते-पीते ठीक हैं किंतु अधिक शारीरिक श्रम करने में असमर्थ होते हैं। उनमें सर्दी में ठंड का आनंद लेने की प्रवृति होती है किंतु ग्रीष्म ऋतु की गर्मी पसंद नहीं करते। ग्रीष्म में वे शीतल पेय पंसद करते हैं और मसालेदार गर्म भोजन से कतराते हैं। उनकी सोने में रुचि होती है और वे जगते रहने से नफरत करते हैं।

पित्त प्रकृति वाला बालक नाजुक किंतु बुद्धिमान होता है। ऐसा बच्चा गर्मी बर्दाश्त नहीं करता और यदि उसे जबरन ऊनी वस्त्र पहनाए जाते हैं तो वह रोने चिल्लाने लगता है, जरा सी छेड़खानी से ददोड़े उभर आते हैं। ऐसे बच्चे को कब्ज की शिकायत नहीं होती। पित्त प्रकृति का दूध पीता बच्चा इतना संवेदनशील होता है कि यदि मां मसालेदार भोजन करती है तो बच्चे के मुंह में छाले निकल आते हैं और उसे ज्वर हो जाता है। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि बच्चे का पित्त दोष बिगड़ गया है। जिस प्रकार बचपन में 'कफ दोष' नैसर्गिक रूप से

प्रधान रहता है; उसमें पित्त दोष को काफी हद तक नियंत्रित करने की प्रवृति होती है। किंतु युवावस्था में शारीरिक तौर पर जब उम्र के साथ 'पित्त दोष' परिपक्व हो जाता है और तब यदि सावधानी न बरती जाए तो मामूली सी वजह से उनमें पित्त से संबंधित रोगों से पीड़ित होने की प्रवृत्ति आ जाती है।

अत्यम्लता, पाचक व्रण, तनावातिरेक, चर्म रोग, मितली, वमन और अतिसारात्मक समस्याएं आदि पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति का जीवन भर पीछा करती हैं। पंचकर्म चिकित्साओं में विरेचन अथवा बलात्रेचन का परामर्श दिया जाता है। मसालेदार, तीखे खाद्य पदार्थों से बचना चाहिए। पित्त प्रकृति वाला बच्चा मीठा पसंद करता है; और उसे जो पसंद नहीं हो वह जबरदस्ती नहीं खिलाना चाहिए।

कफ प्रकृति

सौम्य और मंद 'कफ दोष' त्रिकोण का तीसरा कोण है। पृथ्वी और जल से निर्मित यह दोष स्थायित्व और शांति के गुण समाहित कर लेता है। सदैव शांत कफ प्रकृति वाला व्यक्ति तीस वर्ष की उम्र में भी जॉनसन के 'बेबी आइल' विज्ञापन के शिशु की भांति प्रतीत होता है—घने काले केश, बड़े किंतु शांत नेत्र, शरीर में बचपन की वसा जो कभी समाप्त होती नहीं प्रतीत होती है। यह सब व्यक्ति को गोल-मटोल और अपने साथी वात या पित्त प्रकृति के व्यक्ति की तुलना में सुस्त बना देती है। 'कफ प्रकृति' वाला बच्चा मंद गति से सीखता है, बड़ी खुशी से बड़ों की बात सुनता है और संतुष्ट रहता है (काफी हद तक बड़ों को संतुष्टि होती है)। ऐसा बच्चा ठीक से खाता, ठीक से खेलता और ठीक से सोता है। उसके शरीर की बनावट ठीक-ठाक होती है, विषम नहीं जैसा कि पित्त प्रकृति में देखने में आता है। त्वचा के नीचे जमी वसा की पर्तों से हाथ की शिराएं कभी दिखाई नहीं देती हैं (रक्त निकालने समय अथवा अंत:शिरायी रूप से औषधि देते समय डाक्टर को भी भय लगता है)। यह स्थिति उस वात प्रकृति वाले व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होती है जिसके हाथ में इधर-उधर जाती हुई नीली शिराएं दिखाई देती हैं। कफ प्रकृति वाले व्यक्ति को अधिक शारीरिक भार की समस्या जीवन भर घेरे रहती है। ऐसे व्यक्ति इस बात को लेकर हमेशा परेशान रहते हैं कि हालांकि वे प्यार और स्वच्छ वायु के सहारे जीवित रहते हैं (हां थोड़ी मात्रा में फल और सलाद का सेवन अवश्य करते हैं) उनके शरीर का वजन हमेशा अधिक रहता है। अपने पित्त साथियों से भिन्न, कफ प्रकृति वाले व्यक्ति को भूख नहीं लगती है। वह सिर्फ इसलिए खाता है कि दोपहर या शाम-रात्रि के भोजन का



कफ प्रकृति—स्थिर, शांत, प्रतिक्रिया करने में धीमा

समय हो गया है, किंतु भूख की वजह से उसके पेट में चूहे कभी नहीं दौड़ लगाते।

ऐसे व्यक्ति सामान्यतः मंद गति वाले होते हैं, किसी भी स्थिति में जल्दबाजी में नहीं रहते। प्ररूपी तौर पर, वे तुरंत निर्णय कभी नहीं लेते और जीवन में हर मामले में, बजाय टांग अड़ाने के तटस्थ रहते हैं। इनमें वात प्रकृति वाले व्यक्ति जैसा ओज या स्फूर्ति नहीं होती और न ही पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति की सी तीव्रता। इसकी बजाय, वे सदैव विनम्र और अपेक्षाकृत प्रसन्न गुणों से सामंजस्य रखते हुए वे दृढ़ मित्रता स्थापित करते हैं। वे सच्चे मित्र, मितभाषी किंतु अच्छे स्रोता होते हैं और उन्हें 'जियो और जीने दो' के नियम का पालन करने में खुशी होती है। उनकी मंद गति 'आलस्य' की सीमा का स्पर्श करती है, अतः कभी-कभी ऐसे व्यक्तियों को कार्य के प्रति उकसाने और प्रेरित करने की आवश्यकता पड़ती है।

कफ की अवस्थिति श्वसन-प्रणाली में होती है, अतः कफ प्रकृति वाले व्यक्ति के अधिकतर कष्ट देने वाले रोग इस प्रणाली से संबंधित होते हैं। रुकी हुई नाक,

साइनस के कारण सिर दर्द, शीत मौसम और ठंडे खाद्य-पदार्थों के प्रति असहनशीलता (आइसक्रीम सहित) ऐसे लोगों की प्रकृति की विशिष्टताएं हैं।

शरीर के जोड़ एक पृथक् क्षेत्र हैं जहां कफ दोष प्रधान रहता है। इस प्रकार कफ प्रकृति वाला व्यक्ति जोड़ों के दर्द से पीड़ित रहता है। खाद्य पदार्थों में कफ में वृद्धि करने वाले मिष्ठान्न जैसे वसा युक्त तत्व पसंद किए जाते हैं।

पित्त दोष जो कि अपचयी प्रक्रियाओं को नियंत्रित करता है, से भिन्न, कफ दोष उपचयी अथवा संश्लेषित प्रक्रियाओं को नियंत्रित करता है। बाल्यकाल में 'कफ दोष' सबसे प्रबल रहता है। अतः पित्त प्रकृति वाले बच्चे की अपेक्षा कफ प्रकृति वाला बच्चा श्वसन प्रणाली से संबंधित (खांसी, जुकाम, दमा आदि) से अधिक पीड़ित रहता है। यह बात बड़ी उम्र की स्थिति में भी लागू होती है। युवावस्था में पित्त प्रबल हो जाता है जबकि वृद्धावस्था में वात में वृद्धि होती है। इस प्रकार आनुवंशिक, कालक्रमिक एवं पर्यावरणीय कारकों की परस्पर क्रिया शरीर के दैनंदिन कार्यों को नियंत्रित करती है।

जिन रोगों से 'कफ प्रकृति' वाला व्यक्ति पीड़ित होता है, उनमें मोटापा, एथीरस काठिन्य, दमा और मधुमेह जैसी अन्य अपचयी बीमारियों सहित जुकाम जैसे सामान्य रोग शामिल हैं। पंचकर्म चिकित्साओं में कफ प्रकृति के व्यक्ति के लिए वमन अथवा जबरन वमन की सिफारिश की गयी है।

संक्षेप में हमने मानव शरीर में विभिन्न प्रकृति की विशेषताओं पर विचार किया। नीचे दी गयी सारणी तीन महत्व प्रकारों की प्रमुख विशेषताएं दर्शाती है। यदि, किसी व्यक्ति को दो दोषों के लिए बराबर अंक मिलते हैं तो उस व्यक्ति की शारीरिक संरचना मिश्रित प्रकार की होगी; कुछ लोगों में तीनों दोष मौजूद हो सकते हैं, अर्थात् 'समप्रकृति'।

आपकी शरीर-सरंचना कैसी है ?

प्रकृति परीक्षण

1. आपके शरीर का गठन कैसा है ? क. छोटा, दुबला, कमजोर
   ख. मध्यम, मांसल, गोल-मटोल, नाजुक
   ग. अनुपात में एकदम ठीक, सुगठित, पूर्ण, सुंदर
2. आपके शरीर का ढांचा कैसा है ? क. दुबला-पतला, छोटा,
   ख. मध्यम, गोल-मटोल
   ग. बड़ा, सुगठित

3. आपके सिर के बाल, शरीर, दाढ़ी और मूंछ के बाल कैसे हैं ?	क. अल्प, शुष्क, चिरे हुए ख. अल्प, मुलायम, भूरे रंग के, श्वेत होने की प्रवृत्ति, गंजे होने की प्रवृत्ति ग. यथेष्ट, भरपूर काले, घुंघराले चमकीले, न टूटते हैं न जल्दी सफेद होते हैं।
4. आपकी त्वचा कैसी है ?	क. शुष्क, चटकनयुक्त, खुरदरी, श्यामवर्ण ख. तैलीय, मुलायम, तिलयुक्त, मुहांसे, चकत्ते, पोर्टवाइन निशान एवं श्याम रोमकूप लालिमायुक्त, साफ ग. चमकीली, स्वच्छ, स्निग्ध, आभायुक्त, साफ गुलाबी।
5. आपके नाखून कैसे हैं ?	क. छोटे, कालिमा लिए, फटे हुए से, टूटते हुए ख. छोटे, लालिमायुक्त, स्निग्ध, चपटे ग. बड़े, गुलाबी, चिकने, चमकदार, उठे हुए
6. आपके ओंठ कैसे हैं ?	क. कालिमायुक्त, फटे हुए, आकृति-विहीन ख. लालिमायुक्त, चिकने, पतले, मुलायम ग. गुलाबी, चिकने, चमकदार, आनुपातिक
7. आपके दांत कैसे हैं ?	क. बहुत छोटे, अथवा बहुत बड़े, बाहर निकले हुए, टूटे हुए से अनियमित ख. मध्यमाकार के छितरे हुए ग. सम, चमकीले, सीधे, चिकने, चमकीले श्वेत
8. आपकी आंखें कैसी हैं ?	क. सफेद भाग कालिमायुक्त, चंचल आंखें, भौंहें सिकोड़ने की आदत ख. श्वेत भाग लालिमायुक्त, भूरी आंखें, तीव्र दृष्टि ग. श्वेत भाग दूधिया सफेद, कोर लालिमायुक्त, शांत कोमल, सौम्य आकृति

9. आपके शरीर का तापमान कैसा है ?	क. सामान्य से कम; हथेलियां और तलुवे शीतल
	ख. सामान्य से अधिक, हथेलियां, तलुवे और माथा गर्म
	ग. सामान्य; हथेलियां और तलुवे मामूली से ठंडे
10. आपके शरीर के जोड़ कैसे हैं ?	क. उन्नतोदर, फटे हुए से, अस्थिर
	ख. शिथिल, मध्यम रूप से आवृत
	ग. मजबूत, सटे हुए, दृढ़, सुसंबद्ध, भली भांति आवृत
11. आपकी चाल कैसी है ?	क. अस्थिर यहां-वहां घूमना पसंद है। हाथों-पावों और कंधों को हिलाने की आदत है
	ख. तेज
	ग. धीमी, स्थिर
12. आपकी आवाज कैसी है ?	क. खुरदरी, कर्कश, क्षीण, नीरस
	ख. स्पष्ट, तेज
	ग. गर्जनयुक्त, मृदंगसम, गहन, प्रीतिकर, मृदुल एवं सौम्य
13. आप बातचीत कैसी करते हैं ?	क. बहुत बातूनी, अप्रासंगिक बोलना, तेज बोलना, बिखरी हुई
	ख. बातूनी, अच्छे और प्रभावपूर्ण वक्ता, तर्क-प्रवण
	ग. धीमी, नम्र, गंभीर, दृढ़ किंतु मितभाषी
14. आपको पसीना कैसा आता है ?	क. कुछ भी विशेष नहीं
	ख. जल्दी और बहुत अधिक, बगलों में, सिर (खोपड़ी) में, शरीर से पसीने की दुर्गंध आती है
	ग. पसीना कम आता है
15. आपकी भूख-प्यास कैसी है ?	क. कहना समझना मुश्किल, कभी अच्छी कभी कम, जल्दी-जल्दी खाना पसंद

	ख. अच्छी, तीन से चार घंटे के अंतर पर खाना, भूख-प्यास बर्दाश्त नहीं
	ग. अपेक्षाकृत कम, भूख-प्यास बर्दाश्त है
16. आहार और पेय की मात्रा क्या है ?	क. निश्चित नहीं है, कभी अधिक कभी कम
	ख. अपेक्षाकृत अधिक
	ग. अपेक्षाकृत कम
17. आपको कैसा भोजन पंसद है ?	क. गर्म और तरीयुक्त
	ख. ठंडा अथवा उष्ण
	ग. गर्म और खुश्क
18. आपको पाखाना कैसा होता है ?	क. काले रंग का, सख्त, दिन में एक बार
	ख. पीले रंग का, पतला, दिन में एक/दो बार
	ग. पीले रंग का, बंधा हुआ, दिन में एक बार
19. आपकी नींद कैसी है ?	क. छह घंटे से कम, बाधित
	ख. छह से आठ घंटे, पक्की
	ग. आठ घंटे या अधिक, पक्की
20. आपको स्वप्न कैसे आते हैं ?	क. आसमान, पवन, तूफान, गड्ढे, घाटी आदि
	ख. अग्नि, विद्युत, स्वर्ण, चमकीले रंग (लाल, पीला) दृश्य
	ग. पानी, तालाब, बगीचे, धुंधले रंग (नीला, हरा, श्वेत) दृश्य
21. आपकी कार्य करने की क्षमता कैसी है ?	क. कम, थोड़ा काम करके भी थकान
	ख. मध्यम, मध्यम स्तर/मात्रा में काम करने पर जल्दी थकान, शारीरिक या मानसिक श्रम नहीं झेल पाना
	ग. अच्छी खासी, ज्यादा काम करके भी थकान न होना

22. आप काम कैसे करते हैं ?	क. तेजी से, हड़बड़ी में ख. मध्यम गति से ग. संतुलित, मंद
23. आपकी यौनेच्छा और शक्ति कैसी है ?	क. कम ख. मध्यम ग. प्रचुर
24. आपकी समझने की शक्ति कैसी है ?	क. कभी तेजी से, कभी देर से समझना ख. हमेशा तेजी से और स्पष्ट रूप से समझ लेना, बहुत चतुर, प्रतिभाशाली ग. हमेशा देर से समझना किंतु उत्तम ढंग से समझ लेना
25. आपकी स्मरण रखने की क्षमता कैसी है ?	क. कम, हमेशा तुरंत भूल जाना, अस्थिर ख. मध्यम, बातें स्मरण रखने में न कम न ज्यादा–बीच का समय लगता है ग. बढ़िया, लंबे समय तक स्मरण रहता है, विचारशील
26. आपका स्वभाव कैसा है ?	क. ईर्ष्यालु, डरपोक, कृतघ्न, कोई भी काम जल्दबाजी में शुरू, निरुद्देश्य इधर-उधर फिरना पसंद, धन और मित्र कम ख. मध्यम दृढ़, जल्दी गुस्सा, क्षमाशील, अहमवादी मध्यम धनी, आत्म सम्मानी, निर्भीक, बहादुर, बहुत चतुर, निर्णय लेने में ठीक ग. कृतज्ञ, वीर, धैर्यवान, लोभी नहीं, शक्तिशाली, प्रशांत, शांत विनम्र, शारीरिक मानसिक दोनों प्रकार का श्रम कर लेना, अध्यापकों के प्रति सम्मान भाव, तीव्र स्मरण शक्ति, धन और मित्र बड़ी मात्रा/संख्या में, स्थिर, विचारशील, उदार, दीर्घजीवी, कोई भी कार्य स्थिर और मंद गति

से प्रारंभ करते हैं।

27. आप किसी समस्या को कैसे सुलझाते हैं ?	क. सतत चिंता करते हुए, कोई एक निश्चित स्थाई निर्णय नहीं ले सकना
	ख. सही और पक्का निर्णय जल्दी ले लेना, निर्णय लेने की अच्छी क्षमता
	ग. शांत और स्थिर चित्त से सही और पक्का निर्णय किंतु समय लेते हुए
28. आप कौन-सी चीजें सहन नहीं कर सकते ?	क. ठंड
	ख. गर्मी, क्रोध, शारीरिक और मानसिक श्रम, भूख, प्यास एवं अन्य शारीरिक आवेग
	ग. ठंड, गर्मी, क्रोध, श्रम/थकान, शारीरिक आवेग, भूख, प्यास अर्थात हर चीज सहन कर सकता

अधिकतम उत्तर

क. : *वात*
ख. : *पित्त*
ग. : *कफ*
क-ख : *वात-पित्त*
ख-क : *पित्त-वात*
क-ग : *वात-कफ*
ग-क : *कफ-वात*
ख-ग : *पित्त-कफ*
ग-ख : *कफ-पित्त*
(बराबर संख्या) क-ख-ग = *समप्रकृति*

8

चतुर्थ आयाम : समय

सभी प्राकृतिक घटनाओं में एक निश्चित सामंजस्य परिलक्षित होता है। यहां तक कि मानव की शारीरिक संरचना भी इस सामंजस्य से बच नहीं सकी है। 'कफ-वात-पित्त' त्रयी न केवल मनुष्य के जीवन काल में ही अपनी प्रधानता के प्रसंग में बदलती है, अपितु हर मौसम में, प्रतिदिन, प्रतिक्षण परिवर्तित होती है। होने वाला आवर्तन संश्लेषण (कफ), परिपक्वता (पित्त) एवं अवक्रमण (वात) का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार बाल्यावस्था में कफ प्रबल रहता है, युवावस्था में पित्त और उत्तरावस्था में वात प्रबल होता है। यह आवर्तन ऋतुओं में भी प्रतिबिंबित होता है : 'कफ' वसंत ऋतु में प्रधान होता है, 'वात' मानसून में प्रबल होता है जबकि 'पित्त' अक्तूबर (हिंदू पत्रक के अनुसार शरद ऋतु) के दौरान प्रबल रहता है। ऐसा ही रुझान 'दिन' में भी देखने में आता है, मानो एक दिन मनुष्य के पूरे जीवनकाल को प्रतिबिंबित करता हो। इस प्रकार, कफ प्रातः काल में प्रबल रहता है (इसलिए भारी नाश्ता करने से बचना चाहिए; वस्तुतः आयुर्वेद कुछ भी खाने की दृष्टि से सुबह के समय को मान्यता नहीं देता। बल्कि उसके अनुसार तो मेदा अथवा वसा को पूरी तरल जला देने हेतु प्रातःकाल व्यायाम करना चाहिए)। पित्त अपराह्न में प्रबल होता है और अग्नि को प्रेरित करता है। अतः इस समय पूरा भोजन करना चाहिए। संध्या का समय वात-प्राबल्य का होता है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि नन्हे-मुन्ने बच्चे संध्या काल में वात-प्रसार की वजह से रोते-चिल्लाते हैं।

रात्रि में भी रेम (REM) अर्थात् Rapid Eye Movement (यह नींद की वह अवस्था होती है जब आंख की पुतलियां तेजी से चलती रहती हैं और व्यक्ति अर्द्धखुलावस्था में रहता है और सपने अधिक देखता है) और गैर रेम निद्रा आवर्तनों की भांति, जो कि हमारे स्वप्नों को प्रभावित करते हैं, 'कफ-वात-पित्त' भी आवर्तन

शैली में काम करते हैं। इस तथ्य को स्वीकारते हुए कि शारीरिक कार्य मौसम की भांति और अपरिहार्य अवस्था वृद्धि की भांति कठिन अवस्थाओं के प्रभाव में होते हैं, (जिसके संबंध में अच्छे से अच्छे समय पर भी कुछ नहीं कहा जा सकता)। आयुर्वेद, हमें अपने शरीर को प्रकृति की तरंग के साथ पूरी तरह सामंजस्य बनाए रखने हेतु विशिष्ट विधियां बताता है। ये दैनिक क्रियाएं 'दिनचर्या' कहलाती हैं। ऋतु के अनुसार की जाने वाली क्रियाएं 'ऋतुचर्या' कहलाती हैं। विभिन्न चिकित्सा विधियां तथा 'पंचकर्म' जैसी विशिष्ट चिकित्सा, ज्यादातर 'दोषों' को सामान्य रूप में लाने हेतु ऋतु विशेष के अनुसार अपनाई जाती हैं। यह बात समझ में आती है कि यदि प्रबंध अथवा शासनकर्ता खुश हैं, तो धातुएं और उनकी वजह से फिर 'मल' भी अपनी उत्तम अवस्था में रहता है।

पहले हम ऋतुचर्या की बात करें। चूंकि हम अपने जीवन का ज्यादातर हिस्सा खाना बनाने, खाने और भोजन की चिंता करते बिताते हैं, हम भोजन पर बल देते हुए पहले ऋतुचर्या पर चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम तो यह महसूस करना जरूरी है कि ऋतुचर्या घर से बाहर मौजूद मौसम पर आधारित है न कि कलेंडर, महीनों या तारीखों पर। वसंत ऋतु के लिए बताया गया नित्यक्रम केवल इस वजह से नहीं अपनाया जा सकता कि मार्च का महीना है या कि होली का त्योहार निकल चुका है या फिर हवा में अभी ठंडक है और रातें कंबल ओढ़ने जितनी ठंडी हैं। इसके अलावा, ऐसा कहा जाता है कि वंसत ऋतु चैत्र और वैशाख में आती है जो मार्च, अप्रैल अथवा मई में कभी भी पड़ सकती है। इस प्रकार यदि मार्च में मौसम दिसंबर जैसा है तो वह नित्यक्रम अपनाना चाहिए जो शीत ऋतु के लिए निर्धारित किया गया है न कि वसंत ऋतु का। यदि मार्च में अपेक्षाकृत मई महीने जैसी अधिक गर्मी हो गयी है तो ग्रीष्म ऋतु के लिए बताया गया नित्यक्रम अपनाया जाना चाहिए।

यह भी स्मरण रखें कि एक से दूसरा मौसम रातों-रात नहीं परिवर्तित होता। जिस प्रकार एक ऋतु दुरंगापन लिए शालीनता से दूसरी ऋतु में समाहित हो जाती है उसी प्रकार हमारी आहार व्यवस्था और रहने के तौर-तरीके बिना हिचक के परिवर्तित होने चाहिए।

अपने स्वास्थ्य पर ऋतुओं के प्रभाव को समझने और चिकित्सक से बचे रहने के लिए कब और कैसा खाना खाना चाहिए, इस बात का महत्व समझने के लिए हमें 'त्रिदोष' के सबल-निबल होने संबंधी प्रतिदर्श को समझना चाहिए। आरंभिक अध्यायों में हमने देखा है कि 'दोष' शरीर के बॉस (अधिकारी) हैं और लोगों का स्वास्थ्य हमेशा उनके मिजाज द्वारा शासित होता है।

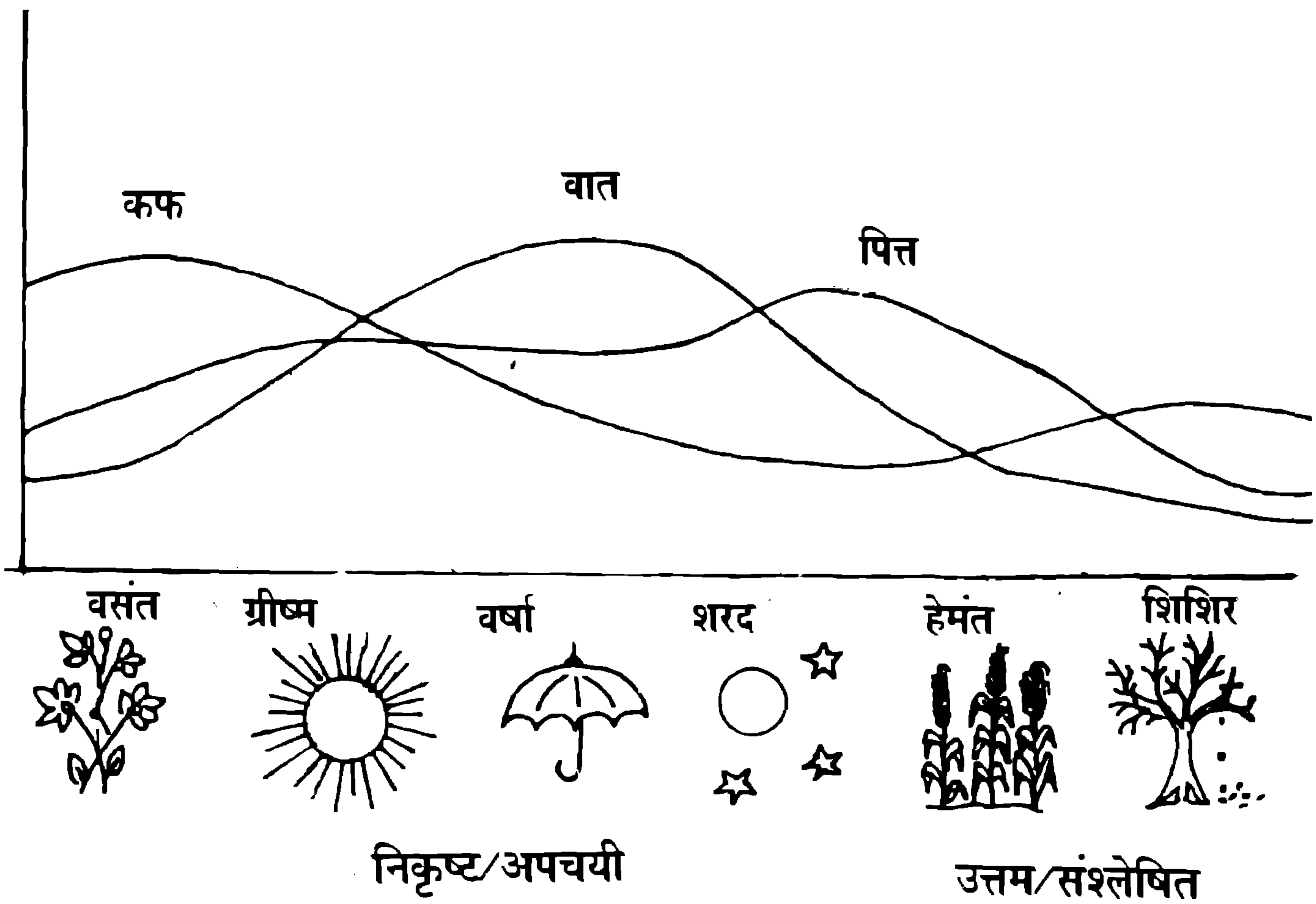
ऋतुएं कुल मिलाकर छह हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद (पतझड़), हेमंत और शिशिर। शिशिर ऋतु में सभी दोष संतुलित रहते हैं बशर्ते अंधाधुंध भोजन करके अथवा अनियमित तौर तरीकों का जीवन जीते हुए इन्हें भड़का न दिया जाए। संतुलित अवस्था में दोषों की स्थिति को 'समदोष' कहते हैं। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सर्दी का समय ऐसा समय होता है जब हम सुखद स्थिति में होते हैं और डाक्टर के पास कम से कम जाते हैं। बच्चों में सनक नहीं होती और वे आसानी से बीमार नहीं पड़ते; और यह मौसम डाक्टरों के लिए 'मंदी का समय' होता है।

शिशिर के बाद वंसत ऋतु आती है। पाश्चात्य देशों में नीरस सर्दी के बाद यह मौसम आता है तो जैसे नव-जीवन का संचार होता है। उष्णकटिबंधी देशों में वसंत के आगमन की सूचना पतझड़ द्वारा नहीं बल्कि होली का त्योहार मनाते हुए मिलती है। यह परिवर्तन अचानक नहीं है किंतु दोष चूंकि पर्यावरण में मामूली से परिवर्तन के प्रति संवेदी होते हैं, अतः परिवेश के तापमान में जरा सी वृद्धि 'कफ दोष' को सक्रिय कर देने के लिए काफी है। यह दोष वसंत ऋतु के मध्य (अप्रैल या उसके आसपास) में अपने चरमबिंदु पर होता है और ग्रीष्म के ताप के साथ कम होना शुरू हो जाता है।

ग्रीष्म ऋतु तो पसीने से तरबतर होने या फिर शुष्क गर्मी में तपने का मौसम है। जब कफ शिथिल पड़ जाता है तब निर्दयी सूर्य 'वात दोष' को सक्रिय कर देता है जो मानसून (जून-जुलाई) में अपने चरमबिंदु पर होता है। सूखी धरती के लिए या फिर आस-पड़ोस के बच्चों के लिए मानसून के आगमन से हुआ परिवर्तन स्वागत योग्य भले ही हो किंतु ज्यादा उम्र के, गठिया से पीड़ित लोग कराहते और बड़बड़ाते दिखाई देंगे क्योंकि अपसामान्य वात की मार से उनके जोड़ चरमराते हैं और अकड़ जाते हैं।

शरद ऋतु के आने पर 'वात' की प्रबलता घट जाती है। मानसून के उत्तरार्ध में पित्त का बढ़ना तो पहले ही शुरू हो गया था। यह शरद ऋतु में अपने चरम-बिंदु पर पहुंच जाता है। पतझड़ में भला शरद के ढंग कहां जो रोष में भरे पित्त को शांत कर सकें ! यह तो हेमंत की शीतल बयार ही है जो मध्य नवंबर में पित्त के जोश को ठंडा करने वाली सर्दी की शुरूआत की सूचना देती है। हम सर्दी के खुशहाली के दिनों की ओर लौटते हैं जब मौसम एकदम सही होता है और 'दोष' भी सही अवस्थाओं में होते हैं।

दिए गये चित्र से आप यह समझ लेंगे कि मानसून अर्थात वर्षा काल सबसे खराब होता है क्योंकि 'वात' जो कि शरीर अवयव संस्थान का मुख्य कार्यचालक



ऋतुएं और दोष—जटिल संबंध

होता है अस्तव्यस्त होता है और उपद्रव करने को तैयार रहता है। यही नहीं,कफ भी इस समय तक पूरी तरह सामान्य नहीं हो पाता और दिन-रात की उमस भरी गर्मी पित्त के मिजाज को काम शुरू करने हेतु उकसाती है। इस प्रकार यदि सर्दी में दोष अत्यंत संतुलित अवस्था में रहते हैं तो वर्षा ऋतु (मानसून) में एकदम खराब अवस्था में होते हैं।

इस सिद्धांत के महत्व को समझने के बाद हम काम की बात करें। प्रकृति की मनमौजी तरंगों के साथ तालमेल बिठाने के लिए क्या करना चाहिए (और कभी-कभी क्या नहीं करना चाहिए) ताकि 'दोषों' के मिजाज को नियंत्रित किया जा सके।

वसंतकाल : गर्मी का प्रारंभ

जैसे शिशिर की शीतल सुबह वंसत की उष्ण रातों का मार्ग प्रशस्त करती हैं, जिस तरह तरुण रक्तिम पत्तियां, हमारी गलियों के पतझड़ से पत्रविहीन न हुए वृक्षों का शृंगार करती हैं, जैसे-जैसे सूर्य प्रकाश प्रखर होता है और दिन बड़े होते हैं तो 'अग्नि' भी मंद होने लगती है और उसकी सहगामी बनकर व्यक्ति की ऊर्जा भी ऐसा ही संकेत देने लगती है और वह पहले से कहीं कम काम करने

में समर्थ हो पाता है। शिशिर ऋतु में जो अच्छे स्वास्थ्य का अहसास हुआ था वह जल्दी ही तिरोहित हो जाता है और मौसम परिवर्तन की विशेषता के रूप में उसका स्थान थकान ले लेती है। व्यक्ति को भूख कम लगती है, भारी खाना सुगमता से नहीं पचता और ऊर्जा की कमी हो जाती है तथा प्रतिरक्षा भी घट जाती है। 'कफ-दोष' अपनी मौजूदगी का अहसास करवाना प्रारंभ कर देता है। जीवन को शोचनीय बनाने वाले, खांसी, जुकाम और दमा के साथ श्वसन-रोगों में वृद्धि दिखाई देने लगती है।

इस शोचनीय दशा से उबरने के लिए क्या किया जा सकता है ? साधारणतया तो, इस बात को ध्यान में रखते हुए कि हमारी 'अग्नि' अथवा जैविक ज्वाला वंद हो गयी है और चयापचयी प्रक्रियाएं भी धीमी हो गयी हैं, हमें हल्का भोजन करना चाहिए। दूध और दुग्ध उत्पाद (पनीर अच्छा उदाहरण है) जैसे भारी खाद्य पदार्थ, मांसाहार, विशेषकर मछली और केकड़े (हालांकि लाल मांस इतना बुरा नहीं है) और केलों के सेवन से हर कीमत पर बचना चाहिए।

चपाती, भाखरी या खकरा जैसी हलकी चीजें आदर्श पदार्थ हैं। संग्रहीत अनाज भी अच्छे रहते हैं क्योंकि नये अनाज पचाने मुश्किल होते हैं और ये कफ में वृद्धि भी कर सकते हैं। कटु, तीखी और मसालेदार चीजें भोजन में शामिल की जा सकती हैं ताकि इनसे किसी सीमा तक निस्तेज 'अग्नि' प्रेरित हो सके और जमा हुए कफ से मुक्ति मिल सके। सरसों, अदरक, काली मिर्च, लाल मिर्च, दालचीनी और लहसुन जैसी चीजों का उपयोग किया जा सकता है। मसालों आदि के उपयोग पर नियंत्रण स्वस्थ आहार का प्रमाण-चिह्न है और मसाले डालते समय हाथ पर काबू रखने से कफ को कम करने में मदद मिलती है।

जो सब्जियां इसमें भूमिका निभाती हैं उनमें करेला, चिचिंडा, बैंगन, मूली, सफेद प्याज, हरी पत्तियों वाली सब्जियां जैसे मेथी और लाल पत्तियों वाली सब्जियां और देशज 'माथ' के साथ-साथ मूंग, हरा चना और 'तूर' की दाल शामिल हैं। बनी हुई वस्तुओं में धनिए की बड़ियां, फूले हुए चावल की चीजें, 'चुरमुरे' से बना 'चिवड़ा', चने की दाल से बने लड्डू, भाजनी से बनी भाकरी के उपयोग की सिफारिश की जाती है।

दही (आयुर्वेद, द्वारा किसी भी मौसम में दही का सेवन खतरनाक बताया गया है) का सेवन नहीं किया जाना चाहिए। दूसरी ओर छाछ में, घी, जीरा, हींग और धनिये का तड़का लगाकर उसे पीना चाहिए। यह स्वास्थ्य के लिए अच्छा है।

ऐसा कहा जाता है कि खाने के बाद अधिक पानी नहीं पीना चाहिए क्योंकि

इससे पाचन प्रक्रिया में बाधा पहुंचती है। बर्फ का ठंडा पानी पाचक अग्नि को बुझा देने और कुछ क्षणों के लिए प्यास बुझाने का काम करता है, जिससे भोजन के पाचन में विलंब होता है और व्यक्ति बेचैनी महसूस करता है। एक लीटर पेय जल में एक चम्मच भर अदरक का रस मिलाकर पीने से अग्नि तेजी से सक्रिय हो जाती है।

यद्यपि, अग्नि की मंद होती शक्ति बड़ी समस्या नहीं है तथापि हमें सावधानी बरतनी चाहिए ताकि 'कफ' का रोष न बढ़े क्योंकि यह कफ ही है जो धीरे-धीरे इकट्ठा होकर शरीर की सरणियों को अवरुद्ध कर देता है। कफ को और भड़कने से रोकने के लिए वातानुकूलित पर्यावरण से और पंखे के नीचे प्रत्यक्ष हवा से दूर रहना चाहिए। शारीरिक व्यायाम मध्यम स्तर तक रहना चाहिए तथा वजन घटाने के कार्यक्रम अगली सर्दी आने तक स्थगित कर देने चाहिए, क्योंकि उस समय शरीर अधिक सहयोग करने की स्थिति में होता है। हालांकि मन तो करता है, किंतु ठंडे पानी से स्नान शरीर की सबसे अंतिम आवश्यकता होती है। नाराज और निष्क्रिय 'कफ दोष' से, पहले ही ऊपर तक भरा प्याला छलके नहीं, इससे बचने के लिए गुनगुने पानी से स्नान करना उत्तम होता है।

आयुर्वेद ने उपचार की अपेक्षा रोकथाम के सिद्धांतों का प्रचार किया है। आयुर्वेद में जिन चिकित्सा प्रणालियों का समर्थन किया गया है, पंचकर्म उनमें से एक है। इसमें पांच चिकित्सकीय पद्धतियां हैं जिन्हें, संचित दोषों से मुक्ति पाने के लिए अमल में लाया जा सकता है। इनमें, 'बलात वमन' कफ से मुक्ति पाने का सबसे अच्छा तरीका है। बहुत से आयुर्वेदिक चिकित्सक, वसंत ऋतु प्रारंभ होने पर रोग निरोधी 'बलात वमन' क्रियाएं करने की सलाह देते हैं ताकि 'कफ' से जुड़ी समस्याएं उत्पन्न ही न हों।

यह तो हुई वसंत ऋतु की बात। अब हम देखें कि ग्रीष्म ऋतु में हमारे लिए क्या है ?

ग्रीष्मकाल : छुट्टियां, आम और असह्य गर्मी

मई का महीना छुट्टियों और आमों के साथ बच्चों के लिए सभी प्रत्याशाएं लेकर आता है किंतु यह विनाशकारी भी सिद्ध हो सकता है। पसीने वाले तपते दिन और उसम भरी रातें लोगों को गर्मी से राहत पाने के लिए हिल स्टेशनों पर जाने के लिए प्रेरित करती हैं। दिन निश्चित रूप से बड़े और रातें छोटी होती हैं, सूर्य चमकदार और प्रखर रहता है। ऐसा लगता है कि हम पानी पर ही जीवन निर्वाह कर रहे हैं क्योंकि झुलसाने वाली गर्मी हमारे गले को खुश्क किए रहती है। इस

समय के आने तक हम भूल जाते हैं कि भूख कैसी होती है। केवल रसीले पीले एल्फेंजो आमों को देखकर शुष्क रालग्रंथियों से लार टपकने लगती है।

इन दिनों, यद्यपि 'कफ' कम होने लगता है और वात बननी शुरू हो जाती है और पित्त पूरी तरह निष्क्रिय नहीं होता और शरीर रूपी क्षेत्र को रोगों के लिए पूरी तरह उर्वर बना देता है। वात से संबंधित बहुत से रोग उभर आते हैं, हालांकि ये रोग अपनी चरम सीमा पर वर्षा के मौसम में ही पहुंचते हैं। आमाशय की गड़बड़, वायु विकार, प्रत्यावर्ती अतिसार, मलावरोध और गठिया जैसे रोग सिर उठाते हैं। इस संदर्भ में, हमें कम हुई अग्नि के लिए वसंत ऋतु वाली नीति का ही अनुसरण करना होगा और 'वात दोष' को नियंत्रण में रखने के लिए तरकीबें अपनानी होंगी। अब तक हमें यह ज्ञात हो चुका है कि सह दोषों में 'वात' सर्वाधिक प्रबल होती है और यदि यह अव्यवस्थित हो जाती है तो यह विवश होकर शेष सभी दोषों का संतुलन बिगाड़ देती है और व्यापक क्षति पहुंचाती है। पुनरावृत्ति के खतरे के साथ-साथ यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि हालांकि 'वात' की अपसामान्यताएं प्रकट रूप में सामने आती हैं, पर अन्य दोष भी पूरी तरह सामान्य नहीं होते।

मुसीबत से बचने के लिए मोटे-मोटे नियम वही हैं जो वसंत ऋतु के लिए सुझाए गये हैं अर्थात् जरूरत से ज्यादा न खाएं और पाचन-क्षमता (अग्नि) को अस्तव्यस्त न करें। किंतु उन खाद्य पदार्थों और औषधियों का उपयोग करें जो अग्नि को प्रेरित करते हैं और वात को (अन्य दोषों को परोक्ष रूप से) नियंत्रण में रखते हैं।

इस उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए खट्टे और नमकीन खाद्य-पदार्थ, जो वात को प्रभावित करते हों, खाए जा सकते हैं जबकि कटु और तीखे भोजन से बचना चाहिए क्योंकि वे 'वात' की वृद्धि करते हैं। चावल, शकरकंद, गाजर, शलजम, जिमीकंद, भिंडी, गोभी एवं चिचिंडा आहार में स्वागत योग्य सब्जियां हैं। सामान्यतः कार्बोहाइड्रेट वाले तत्व उपयोगी होते हैं चूंकि ये वात को प्रभावित नहीं करते। इस प्रकार दूध और लस्सी (दही और पानी उपयुक्त ढंग से मथा हुआ) जैसे दुग्ध उत्पादों का सीमित मात्रा में सेवन किया जा सकता है क्योंकि पाचन की दृष्टि से ये चीजें भारी होती हैं और पहले से ही क्षीण 'अग्नि' पर और भार डाल सकती हैं।

कच्चे आम (अमिया) जैसे खट्टे फलों का शर्बत विशेषकर तीव्र गर्मी वाली संध्या को उपयोगी होता है। उसी प्रकार, 'कोकम' (महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में पैदा होने वाला एक अन्य फल) भी 'वात' को कम करता है।

हम उन मसालों के विषय में पहले ही चर्चा कर चुके हैं जिनका सेवन पाचन अग्नि को बढ़ाने हेतु किया जाना चाहिए और वही मार्गदर्शक सुझाव यहां अपनाए जा सकते हैं। तथापि, लहसुन के सेवन से बचना चाहिए किंतु शरीर में ताप का प्रतिकार करने वाले प्याज का सेवन उपयोगी होता है।

मानसून : सर्वत्र जल ही जल···

जून, जुलाई के महीने और अगस्त का प्रारंभ आर्द्र होता है। छतरियां, बरसाती, बाढ़ और इस सबकी बदौलत अवरुद्ध यातायात प्रतिदिन जैसे हर कदम हमारा पीछा करते हैं। लोग सड़क के किनारे जो भुने हुए भुट्टों को खाते हैं उनकी गंध, समुद्र की तरफ टहलने जाते समय नाक में घुसती है। समुद्र की ऊंची-ऊंची लहरें प्रायः प्रचंड गर्मी के बाद सूखी धरती की प्यास बुझाने का निष्फल प्रयास करती दिखाई देती हैं।

सौभाग्यवश, चूंकि वर्षा के साथ ही परिवेशी-तापमान में गिरावट आ जाती है, अग्नि किंचित अधिक सक्रिय हो जाती है। यद्यपि पहली बारिश होते ही तापमान अनायास कम हो सकता है किंतु मशीन की तरह 'अग्नि' एकदम घट-बढ़ नहीं सकती। 'अग्नि' तो चार माह के अंतराल के बाद धीरे-धीरे ही बढ़नी शुरू होती है क्योंकि उन चार माहों में सूर्य के बाह्य ताप से अग्नि की शक्ति प्रभावी ढंग से काफी निस्तेज की जा चुकी होती है।

'वात दोष' जो ग्रीष्म में बढ़ना शुरू हुआ था, मानसून के उमस भरे ताप से और आवेगपूर्ण हो जाता है। अग्नि-मांद्य की स्थिति इस समय भी बनी रहती है हालांकि ग्रीष्म की तुलना में यह कम होती है। अब तक पित्त दोष निश्चित रूप से चैतन्य हो जाता है। अतः 'वात' और 'पित्त' को नियंत्रित करने और अग्नि को प्रदीप्त करने हेतु आहार को बहुत ही युक्तिसम्मत तरीके से नियंत्रित किया जाना चाहिए।

फूले हुए चावल, भाकरी, चपाती और चावल दूध के साथ, तथा चने के आटे (पिठला) से बना तरल पदार्थ, सेवन की दृष्टि से आदर्श पदार्थ हैं। सादा ब्रेड की अपेक्षा 'टोस्ट' ठीक रहता है। भोजन के बाद ठंडे दही-चीनी के सेवन से बचना चाहिए क्योंकि क्षीण-मंद अग्नि जो अपने यथार्थ रूप में आने के लिए प्रयासशील रहती है, इससे निस्तेज हो सकती है। घी, तेल (वात के उत्तम प्रतिकारक) और मसाले, खाना पकाने की प्रक्रिया में सहर्ष शामिल की जाने वाली वस्तुएं हैं। 'घी' न केवल 'वात' को नियंत्रित करता है बल्कि 'पित्त' पर भी उसका शीतल प्रभाव पड़ता है। समस्या केवल यह है कि 'घी' का समुचित उपयोग करने के

लिए 'अग्नि' को अपना काम करना चाहिए। हां, यह अवश्य है कि 'घी' का भी न कम और न ज्यादा अर्थात् उचित मात्रा में सेवन किया जाना चाहिए।

वर्षा ऋतु प्रायः ही ऐसे आराम पसंद परिवार-मिलन की कल्पना मानस पटल पर उभार देती है जहां गरमागरम चाय के साथ तेज मिर्च वाली 'भुजिया' अथवा बटाटा वड़ा खाने का दौर चलता है। कृपया ऐसा मत कीजिए अन्यथा आपका शरीर विद्रोह कर देगा।

सामान्यतः दही का सेवन नहीं करना चाहिए, हालांकि दही के ऊपर के पानी अथवा छाछ में हींग और सोंठ का चूर्ण डालकर पीना आपके स्वास्थ्य के लिए अच्छा सिद्ध होगा।

अंगूरों से बनने वाली औषधि (द्राक्षासव) वात को कम करने में अत्यंत उपयोगी होती है। इस मौसम में वात से संबंधित रोगों के विरोध के लिए पंचकर्म चिकित्सा विधि, औषधि युक्त एनिमा अथवा 'वस्ति' होती है। यह विधि 'वात' को नियंत्रित करती है; वात के दूषित होने के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों की रोकथाम करती है।

शरद ऋतु : रंगों का प्रदर्शन

भारत के अधिकतर भागों में हम इस ऋतु के सौंदर्य से वंचित रहते हैं क्योंकि यहां शरद के रंगों की कोई लहर ही अनुभव नहीं होती। इसके बजाय हमें सामना करना पड़ता है बढ़ती हुई गर्मी का जो मानसून के बाद ही सुखद नीरवता से बाहर निकालकर बड़ी रुखाई से झटका देती है। यह समय होता है अगस्त के उत्तरार्ध और अक्तूबर के प्रारंभ के बीच का। इस मौसम में पित्त अपनी चरम सीमा पर होता है और ऐसे रोग उत्पन्न करता है जो पिछले मौसमों के रोगों से सर्वथा भिन्न होते हैं।

कठोर, कटु और मीठे पदार्थों का सेवन उग्र पित्त को जो कि उस बदमिजाज बालक की भांति होता है जो शेष दो दोषों से पराजित न होकर अपनी शक्ति का उपयोग करता है को काबू करने के लिए उत्तम होते हैं। 'वात' कम हो जाती है और 'कफ' निष्क्रिय रहता है। गर्म और मसालेदार, खट्टे व नमकीन पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। दूध और घी 'पित्त' को शांत करने में आश्चर्यजनक ढंग से काम करते हैं। अतः इस मौसम में विभिन्न प्रकार की खीर (मीठा खाद्य पदार्थ) खाने की सिफारिश की जाती है। चूंकि लौकी पित्त को कम करती है, अतः इसका हलवा आदर्श प्रतीत होता है। कदाचित यह संयोग नहीं है कि हमारे सारे त्योहार इसी मौसम में पड़ते हैं और हम सब इच्छा या अनिच्छा से काफी

मिठाई (नारियल, चावल, बासुंडी आदि) खाते हैं जो हमारे शरीर के लिए अच्छी होती हैं। इसी प्रकार, चावल, गेहूं जैसे अनाज और मूंग, मटकी की दाल तथा हरे चने भी फायदेमंद होते हैं। तिक्त पदार्थ भी पित्त को कम करने में सहायक होते हैं। अतः मेथी, करेला, बीन और हल्दी तथा कढीपत्ता जैसे मसाले लाभप्रद हैं। तीव्र गंध वाले मसाले, लहसुन, हींग और सरसों भोजन से परे रखने चाहिए क्योंकि इनसे पित्त अव्यवस्थित हो सकता है। कोकम और नींबू को छोड़कर (क्योंकि ये खट्टे होने के बावजूद पित्त को कम करते हैं) अन्य खट्टी वस्तुओं का सामान्यतः सेवन नहीं करना चाहिए। आंवले के मुरब्बे को दैनिक आहार का ही अंग बना लिया जाना चाहिए।

पित्त की उग्रता को रोकने के लिए तुलसी (बासिल) के बीज विशेष रूप से उपयोगी होते हैं। लाल मिर्च, पापड़ और अचार का सेवन सावधानीपूर्वक करना चाहिए। यदि किसी को मसाले युक्त भोजन ही चाहिए तो उसके लिए अदरक अच्छा रहेगा क्योंकि यह पित्त को कम करता है।

प्रारंभिक शिशिर : शीतल बयार

उत्तरी भारत को छोड़कर अक्तूबर मास की गर्मी सबको प्रभावित करती है। जब दीपावली आती है तो लगभग जादुई ढंग से दिन छोटे हो जाते हैं और रातें बड़ी। और शीतल, सुखद हवा जिंदगी को फिर से सह्य बना देती है। यह संभवतः वर्ष का सबसे अच्छा समय होता है चूंकि इस काल में अग्नि बननी शुरू हो जाती है, पित्त का क्षय होने लगता है और 'कफ' समुचित व्यवहार करता है। संक्षेप में इस समय लगभग आदर्श स्थिति विद्यमान होती है। किंतु यह आदर्श स्थिति तभी तक कायम रहती है जब तक हम लापरवाह नहीं होते। हमारे लापरवाह होते ही यह आदर्श स्थिति समाप्त हो जाती है।

आयुर्वेद वर्ष में दो महत्वपूर्ण समय का उल्लेख करता है : 'विसर्गकाल' एवं 'अदनकाल'। प्रथम चरण में शरीर में निर्माण क्षमता होती है; अग्नि अच्छी अवस्था में होती है और सामान्य रूप से स्वस्थ अनुभव करने का भाव रहता है। दूसरी ओर, द्वितीय चरण में चयापचयी और रुग्ण स्वास्थ्य की आवृति होती है। वसंत और ग्रीष्म ऋतुएं अदनकान की अच्छी उदाहरण हैं जबकि शरद और शिशिर ऋतुएं, 'विसर्गकाल' की अच्छी उदाहरण हैं। यद्यपि वर्षा और शरद ऋतुएं 'विसर्गकाल' मानी जाती हैं, मानसून में 'वात' द्वारा की जाने वाली शरारत और शरद ऋतु में 'पित्त' द्वारा की जाने वाली गड़बड़ इनके 'आदर्श' होने की संभावना को समाप्त कर देती हैं।

कुल मिलाकर, शिशिर ऋतु का प्रारंभ जिसे हेमंत ऋतु कहा जाता है, सुखद समय को दर्शाता है। 'दोष' शांत रहते हैं और परिवेश के साथ संतुलन बनाये रहते हैं। 'अग्नि' बल अर्जित करती है, ऊर्जा में वृद्धि होती है और प्रतिरोधकता में सुधार होता है।

संभवतः इस सब की वजह से लोगों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। रोग कम होते हैं और चिकित्सकों के पास करने के लिए काम कम होता है। संभवतः इसी वजह से चिकित्सा संबंधी अधिकतर गोष्ठियों और सभा सम्मेलनों का आयोजन इसी मौसम में किया जाता है। दिवाली से लेकर मध्य दिसंबर तक यह मौसम हमें बिगड़ने का मौका देता है। चूंकि 'अग्नि' सक्रिय होती है, बढ़िया और स्वादिष्ट भोजन आसानी से पच जाता है और आत्मसात भी हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें भरपूर भोजन करना चाहिए, क्योंकि यदि अग्नि के लिए पर्याप्त ईंधन नहीं दिया गया तो अब तक प्रबल हो चुकी अग्नि आंतरिक ऊतकों को जला देगी और तब व्यक्ति स्वयं को कमजोर महसूस करने लगेगा।

मीठे, खट्टे और नमकीन पदार्थ इस मौसम में विशेष रूप से अच्छे रहते हैं। तले हुए खाद्य पदार्थ, दूध एवं दुग्ध उत्पाद, मांसाहार एवं मेवों के सेवन को बढ़ावा दिया जाता है। अनुभव सिखाता है कि 'जब भूख हो तब खाएं' क्योंकि अग्नि उसे स्वीकार कर सकती है। कुछ लोग भोजन के बीच में भी बिना भूख के अतिरिक्त आहार ले सकते हैं। वास्तव में इस मौसम को लाने वाली दिवाली इस बात का उत्तम विज्ञापन है कि इस मौसम में व्यक्ति क्या कुछ खा पी सकता है।

हमें स्वभाविक रूप से कफ के संचय को प्रभावपूर्ण ढंग से रोकने के लिए कठोर व्यायाम करना चाहिए। चूंकि मौसम अच्छा होता है इसलिए कितनी भी गतिविधि चयापचय को हानि नहीं पहुंचा सकती। तेल की मालिश और रोज गर्म पानी का स्नान एकदम अच्छा महसूस करने का फार्मूला है। दोपहर में झपकी नहीं लेनी चाहिए, अच्छा तो यह है कि बिस्तर पर न जाकर व्यक्ति को सक्रिय रहना चाहिए।

केले, अमरूद और शरीफे का सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि इनसे कफ संचित होकर बाद में परेशानी पैदा करता है।

सर्दी–कफ

ज्यादा हो या न हो पर देश के विभिन्न भागों में थोड़ी बहुत ठंड हम सभी महसूस करते हैं। यह दौर हेमंत ऋतु के क्रम में ही होता है और इसलिए सकारात्मक

चयापचय और वृद्धि को दर्शाता है। दुर्भाग्यवश आमोद-प्रमोद का दौर समाप्त होने को होता है और शांत 'कफ दोष' सचेत होने लगता है। स्वास्थ्य अच्छा रहता है और इस समय तक स्वास्थ्य संबंधी शिकायतें कम से कम रहती हैं।

आहार संबंधी अधिकतर परामर्श वही रहता है जो हेमंत ऋतु के लिए था। शरीर में ऊष्मा निष्पादित करने वाला भोजन पसंद किया जाता है। ऐसे भोजन में भरवा बैंगन (भर्ता), मूंग की दाल के साथ चावल, और तिल और गुड़ के साथ चपाती की गिनती होती है। बाजरे की बनी हुई खूब घी या मक्खन युक्त भाकरियां इस समय आदर्श खाद्य-पदार्थ समझी जाती हैं। तिल युक्त बाजरे का आटा इससे भी बेहतर होता है ! बढ़ते हुए कफ को झेलने के लिए मसालों का सेवन किया जा सकता है। अजवायन, काली मिर्च, दालचीनी और काली मिर्च का सेवन भी किया जा सकता है। काली मिर्च खासतौर से रुचिकर होती है। यह पिप्पली है और इसमें रोधी-प्रत्यूर्जता (एलर्जी) के गुण होते हैं। जब इसे तरबूज, खरबूजे या अन्य किसी फल के शबरत में मिला दिया जाता है तो यह उनके ठंडेपन के प्रभाव को कम करते हैं।

'ओवा' नामक मसाले को कई सब्जियों में, विशेषकर इस मौसम की सब्जियों में (जैसे गुजरातियों में ऊंधियो) मिलाया जाता है क्योंकि पिप्पली की भांति इसमें आंवपाचक गुण होते हैं जो अनेक बीमारियों को जन्म देने वाली आव को बनने से रोकते हैं।

इस अध्याय में हमने देखा कि वर्ष की छह ऋतुओं में हम सभी को क्या खाना चाहिए और क्या नहीं। इससे इस किंवदंती की ही पुष्टि होती है कि जैसा खानपान वैसे हम।

9

जैसा खानपान वैसे हम : आहार

हमारे एक मित्र ने खीझते हुए अपनी पत्नी के विषय में कहा कि अधिकतर लोग जिंदा रहने के लिए खाते हैं किंतु उसकी पत्नी खाने के लिए जिंदा है ! जो भी हो, आयुर्वेद का मानना है कि जैसा हम खाते हैं उसी के अनुरूप हमारा शरीर और मन होता है और तदनुसार हमारे कर्म होते हैं। हम जो खाना खाते हैं उसे कैसे पकाते हैं, कैसे परोसते हैं, कैसे खाते हैं—इसकी एक अंतहीन लंबी सूची है और आयुर्वेदिक चिकित्सकों की इसमें बहुत अभिरुचि होती है। इसकी कुछ शिक्षाप्रद बातें तो लोक धारणाओं का रूप ले चुकी हैं और कुछ धर्म शिक्षा के रूप में समाहित हो गयी हैं तो कुछ अनुभव के आधार पर सीख ली गयी हैं। किंतु मूलभूत नियम आयुर्वेद के प्राचीन ज्ञान से लिए गये हैं। वे सिद्धांत अधिकतर व्यक्तिगत वैविध्य में ढले, भारतीय आहार की नींव का निर्माण करते हैं।

आहारविज्ञान अथवा 'पाकशास्त्र' काफी विकसित हुआ है तथापि आयुर्वेद की शिक्षा से अभी बहुत कुछ सीखना शेष है। इसका क्षेत्र काफी विस्तृत है और वह समुचित केलोरी और अनिवार्य पोषक तत्व प्रदान करने वाले आहार पदार्थों के क्रम परिवर्तन और आहार संयोजन तक ही सीमित नहीं है बल्कि इससे कहीं अधिक जानकारी अपने में समाहित किए हुए है। वास्तव में हम यह विश्लेषण नहीं करते कि आहार का क्या होता है या यों कहें कि हम जो भोजन करते हैं शरीर भोजन के उन पदार्थों के साथ क्या व्यवहार करता है। हमारा अपना स्वाद जो कुछ खाने के लिए हमें प्रेरित करता है अथवा हमारा असामान्य विवेक जो कहता है या फिर जो हमारी कटिरेखा के लिए मुनासिब होता है हम वही खा लेते हैं। ऐसी स्थिति में अक्सर हम अस्पष्ट सी परेशानी महसूस करते हैं और अपना कीमती समय और पैसा यह जानने के लिए खर्च करते हैं कि आखिर हमारे साथ गड़बड़ क्या है ? उदाहरण के लिए, पतला होने की कोशिश में हम

या तो जबरन भूखे रहते हैं या फिर केवल सलाद पर निर्भर करते हैं और फिर हमारी शोचनीय अवस्था हो जाती है क्योंकि हमारी आंत्र सुस्त हो जाती है या फिर शुरू में थोड़ी हलचल के बाद वजनमापी काम करना बंद कर देता है। प्रायः ऐसे लोग इस बात का रोना रोते हैं कि वे इतना कम खाते हैं फिर भी 'थुलथुल' हो गये हैं और बीस वर्ष की उम्र में ही अधेड़ दिखाई देने लगते हैं। इसके विपरीत कुछ महिलाएं दो-तीन बच्चों की मां बनने के बावजूद, दिन में दो-तीन बार खाती हैं और फिर भी पतली-दुबली स्वस्थ और युवा दिखाई देती हैं। हम इसका कारण समझने के लिए एक बार फिर पढ़कर देखें, हो सकता है कि दो-तीन बच्चों की दुबली पतली मां के संदर्भ में हम अपने आहार की आयोजना कर सकें।

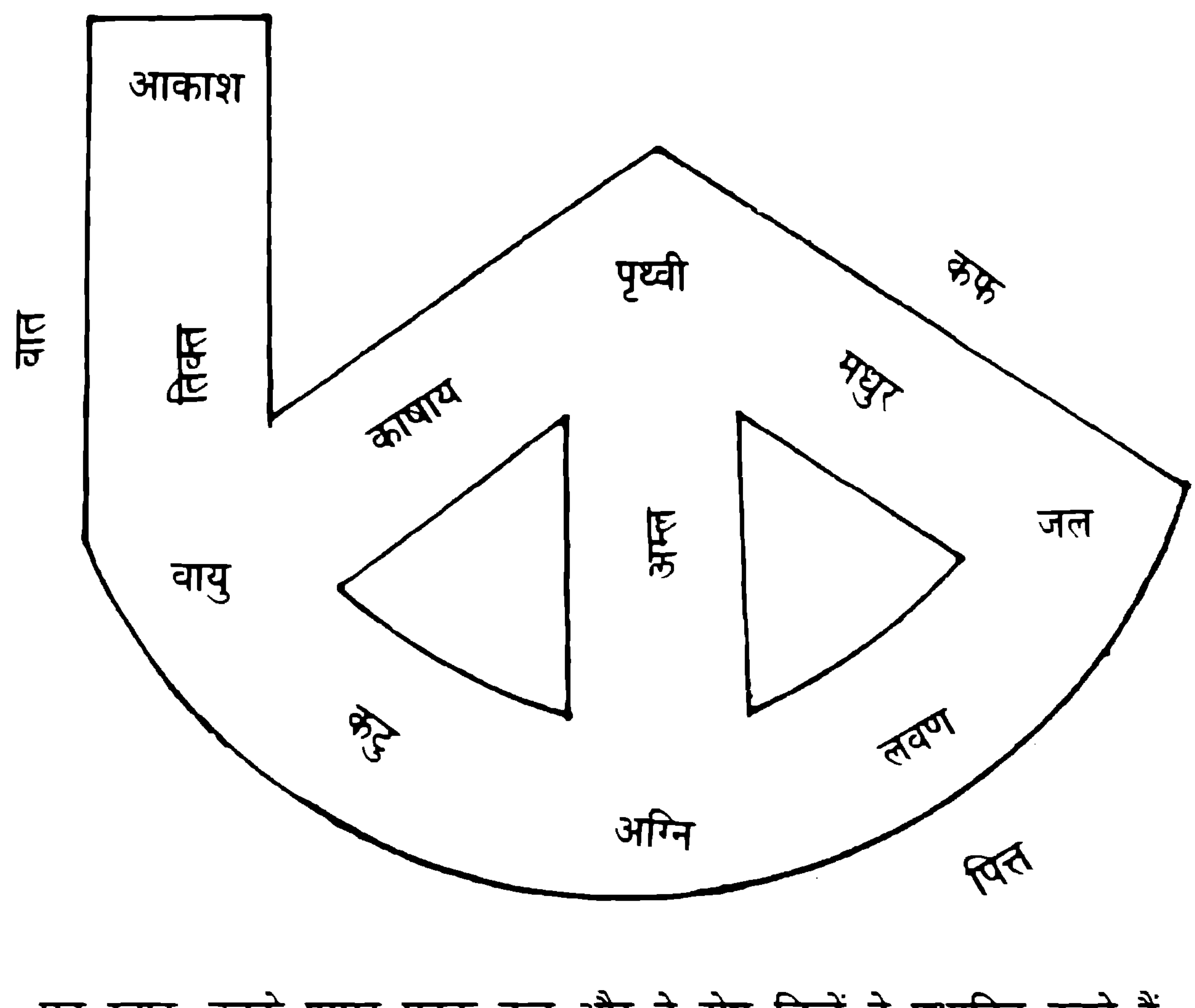
आयुर्वेद का पहला नियम तो यह है कि 'आहार' पर अकेले कभी विचार नहीं किया जाता। आहारिक पदार्थों के प्रभावों को आहरकर्ता के संदर्भ में देखा जाता है। उदाहरण के लिए, सर्दी के मौसम में व्यक्ति की 'अग्नि' अच्छी रहती है और पित्त दोष भी आदर्श रूप में काम करता है जिससे वह कुछ भारी भोजन भी जल्दी पचा लेता है। यह व्यक्ति यदि यही भोजन तेज गर्मी के मौसम में करेगा तो बीमार पड़ जायेगा क्योंकि उसकी 'अग्नि' उत्तम अवस्था में नहीं होती। इसलिए, आयुर्वेद उपचार में खाए गये आहार और भोजन की संसाधन प्रक्रिया दोनों पर विचार किया जाता है।

पिछले कुछ अध्यायों में, हम 'अन्न-रस' (समुचित ढंग से पचे हुए भोजन से बना रस) के महत्व को समझ सके हैं। यदि सभी अवस्थाएं अनुकूल हों तो जो भोजन किया गया है वह आहारनली में संसाधित होता है और दो तत्वों की रचना करता है—आत्मसात होने वाला तत्व जो 'सार' कहलाता है और 'कित्त' जो 'मल' के रूप में बाहर निकल जाता है। सार अवशोषित होकर 'रसधातु' की रचना करता है और क्रम में हलकी, रसधातु बदले में ऊतकों को तर करती है, और उन्हें पोषण प्रदान करती है। यदि सार गुणवत्ता की दृष्टि से असामान्य अर्थात् आंवयुक्त है तो रसधातु को क्षति पहुंचा सकता है, साथ ही ऊतकों को भी जिसकी वजह से रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

आयुर्वेद को समझने में कठिनाई का कारण उसके द्वारा भोज्य पदार्थों के लिए गर्म-ठंडा (ऊष्ण/शीत) अथवा हल्का-भारी (लघु/गुरु) जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जब इस शब्दावली का अंगरेजी में अनुवाद किया जाता है तो मूल भाषा की तरह प्रभावपूर्ण ढंग से इनका अर्थ ग्रहण करने में कठिनाई होती है। तथापि जब हम इस शब्दावली का अर्थ समझने का प्रयास करते हैं तो अनुभव से हमें सहायता मिलती है।

आयुर्वेद, अन्य सभी वस्तुओं की भांति आहार की व्याख्या भी पंचतत्वों (पंचमहाभूत) से निर्मित कहकर करता है। किए जाने वाले भोजन की गुणवत्ता और प्रभाव उसमें समाहित तत्वों पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि खाए गये पदार्थ में पृथ्वी तत्व अधिक है तो वह कफ में वृद्धि करेगा और उसमें संश्लेषक गुण होंगे। यदि उसमें जल तत्व अधिक है तो भी कफ और स्त्राव में वृद्धि होगी। यदि आहार में अग्नि तत्व अधिक है तो पाचन और चयापचयी प्रक्रियाओं में सुधार होगा किंतु यदि उसमें वायु या आकाश तत्व है तो वह पाचन की दृष्टि से हलका रहेगा और वजन को घटायेगा।

दिलचस्प रूप से, आयुर्वेद के अनुसार भोजन में छह प्रकार के स्वाद होते हैं जिनके उनमें निहित तत्वों के अनुसार अपने गुण होते हैं। ये स्वाद हैं—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और काषाय। आइये हम इनका विस्तार से अध्ययन करें।



छह स्वाद, उनके प्रमुख घटक तत्व और वे दोष जिन्हें वे प्रभावित करते हैं

मीठा (मधुर रस)

मधुर रस वाले पदार्थों में पृथ्वी और जल तत्व होते हैं और ये दोनों कफ दोष के घटक हैं। इसलिए इनमें कफ दोष और प्रकारांतर से मेदाधातु को बढ़ाने की

प्रवृत्ति होती है। ये शरीर निर्माण के लिए आवश्यक हैं और हालांकि, इनमें वसा ऊतकों के प्रति अभिरुचि होती है, ये ऊतकों की रचना और मरम्मत में अपना योगदान देते हैं। सामान्य रूप से ये उपचयी होते हैं। मीठे स्वाद वाले (मधुर रस) पदार्थ वजन बढ़ाने में सहायक होते हैं, शक्ति बढ़ाते हैं, वर्ण और केशों के लिए अच्छे होते हैं और प्यास मिटाते हैं। पित्त से सर्वथा विपरीत गुणों से युक्त, ये पित्त को धटाते हैं, इसीलिए गर्मी की तपती दोपहर में चलकर घर आए व्यक्ति को सेवन करने के लिए गुड़ और जल दिए जाने की परंपरा है। गुड़ का मधुर रस बिगड़े पित्त को शांत करता है और व्यक्ति तुरंत बेहतर अनुभव करता है।

मेदाधातु से प्रकृति की समानता के कारण मधुर रस का अतिरेक स्थूलता उत्पन्न करता है। कफ दोष की प्रवृत्ति अग्नि को शांत करने की होती है और यह आलस्य को जन्म देता है। इसलिए मधुर रस वाले कई पदार्थों के सेवन से आलस्य आता है। यदि आहार में ऐसे पदार्थों की प्रधानता है तो जुकाम, खांसी, मितली, वमन, डकार, उच्च रक्तचाप, स्थूलता नपुंसकत्व, कृमि एवं आंत्र शोथ जैसी अधिक कफ दोष को प्रतिबिंबित करने वाली समस्याओं को जन्म देने की प्रवृत्ति रहती है।

अनाज, दालें, फल, दूध और दुग्ध उत्पाद, कंद सब्जियां जिनमें पानी होता है, अंडे, मछली और मांस—सभी में मधुर रस होता है। परंपरानुरूप इस प्रकार रस से युक्त तत्व में मीठा होना आवश्यक नहीं है। रस या स्वाद में 'सार' का स्वाद समाविष्ट है जो आहारनली में संसाधित होने के बाद उत्पन्न होता है। वस्तुतः, यह 'सार' ही है जो रसधातु का निर्माण करता है और त्रि-दोष की गुणवत्ता को प्रभावित करता है। इससे विपरीत स्थिति भी सही है, केवल इसलिए कि कोई तत्व स्वाद में मीठा है उसमें मधुर रस का प्रभाव होना जरूरी नहीं है। शहद इसका उत्तम उदाहरण है।

मुधर रस वाले पदार्थों में पाचकता दर में भिन्नता होती है : कुछ पदार्थ हलके अथवा सुगमता से पचने योग्य होते हैं जबकि कुछ भारी अथवा पचाने में मुश्किल होते हैं। उदाहरण के लिए, मूंग और पुराने चावल (जो संग्रह किए हुए हैं और इसलिए मामूली तौर पर निर्जलित हो गए हैं) हलके होते हैं जबकि कुलिथ अथवा नयी फसल के चावल तथा बासमती चावल भारी होते हैं। भाकरियां और फुलके, परंपरागत चपातियों से हलके होते हैं। भुनी हुई दालें भी पचने में हलकी होती हैं।

इसी प्रकार कुछ खाद्य पदार्थ ठंडे और कुछ गर्म बताए गये हैं। गर्म पदार्थ पित्त को बढ़ाते हैं जबकि ठंडे पदार्थ 'कफ' और 'वात' में वृद्धि करते हैं। बाजरे

या गुड़ की तुलना में चावल और चीनी ठंडे पदार्थ होते हैं। इसलिए सर्दी में गर्म और गर्मी में ठंडे पदार्थ पसंद किए जाते हैं।

खट्टा (अम्ल रस)

'अम्ल रस' (खट्टा स्वाद) युक्त पदार्थ में 'पृथ्वी' और 'अग्नि तत्व' होते हैं, अतः अग्नितत्व स्वाभाविक रूप से 'अग्नि' को प्रदीप्त करता है जिससे स्वाद में सुधार होता है और 'अग्नि-मांद्य' के कारण होने वाली मितली दूर करता है। जरा याद करके देखें कि बीमारी में नींबू के अचार से मुंह का स्वाद कैसा हो जाता है। खट्टे स्वाद वाली चीजों में 'वात' से लड़ने और उसे संतुलित रखने और मस्तिष्क को नियंत्रित रखने की प्रवृत्ति होती है। कुछ खट्टे पदार्थ भी पित्त की वृद्धि करते हैं (जिनमें अग्नि तत्व होता है), जिनसे चर्म रोग बढ़ते हैं।

नींबू, साइट्रस फल, खटाई, टमाटर, कोकम आदि में खट्टा रस होता है।

नमकीन (लवण)

नमकीन तत्वों में 'अग्नि' और 'जल तत्व' की प्रधानता होती है। ये खाने में स्वाद प्रदान करते हैं। खट्टे खाने की तरह नमकीन चीजें भी 'वात' को नियंत्रण में रखती हैं। किंतु इनमें पित्त को अव्यवस्थित करने की प्रवृत्ति भी होती है। नमक और खारे पानी की मछली 'पापड़' और अचार (जिनमें नमक प्रतिरोधी के रूप में होता है) में 'लवण रस' होता है। नमकीन पदार्थों से जुड़ी हुई एक महत्वपूर्ण संकल्पना यह है कि नमक के प्रति एक निश्चित सहनशीलता विकसित हो जाती है।

कड़ुवा (तिक्त)

कडुवे स्वाद वाली चीजों में 'वायु' और 'आकाश' समाहित रहते हैं और उन दोषों का सुगमता से अनुमान किया जा सकता है जिन्हें ये प्रभावित करते हैं। 'आकाश' तत्व की वजह से ये हलके (लघु) होते हैं और 'कफ दोष' का निराकरण करते हैं और इसीलिए मेदाधातु को भी। ये वजन घटाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार कड़वी वस्तुओं को 'मधुमेह' के रोगियों की खुराक में शामिल करने का परामर्श दिया जाता है। यदि अधिक मात्रा में ऐसी चीजें खा ली जाएं तो वे 'वात' में वृद्धि करके अपचयी प्रभाव उत्पन्न करती हैं, वजन कम करके कमजोरी लाती हैं। ये वस्तुएं 'विष' को असरहीन करने और कृमि नाश में उपयोगी होती हैं।

तीखे स्वाद वाली वस्तुओं में मेथी, करेला, परवल आदि पत्तेदार सब्जियां शामिल हैं। हलदी, मेथी, इलायची, जीरा, जायफल, केसर, धनिया, नींबू के छिलके

का स्वाद कडुवा होता है। चूंकि इनमें से कोई भी चीज पर्याप्त मात्रा में लेने जैसी रुचिकर नहीं होती, अतः सभी दोषों को संतुलित रखने के लिए सप्ताह में एक बार इन चीजों का तिक्त 'काढ़ा' लिया जाना चाहिए।

तीक्ष्ण (कटु)

तीक्ष्ण अथवा तेज मसालेदार भोजन में 'अग्नि' और 'वायु' तत्व होते हैं। अतः ये जहां सकारात्मक रूप से 'पित्त' और 'वात' को प्रभावित करते हैं वहीं 'कफ' को निष्प्रभावी बनाते हैं। कटु चीजें वसा (मेदाधातु) एवं 'शोथ' को कम करती हैं और 'अग्नि' का दीपन करती हैं जिससे क्षुधा में सुधार होता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये अधिक प्यास लगाती हैं (पित्त की अधिकता के कारण) और पीड़ा व दर्द को बढ़ाती हैं ('वायु' की अधिकता के कारण वात दूषित हो जाता है)।

काली मिर्च और लाल मिर्च ऐसी ही तीक्ष्ण वस्तुएं हैं।

कसैला (काषाय)

'काषाय' अथवा कसैला स्वाद ऐसा है जिसकी हर व्यक्ति को जानकारी नहीं है। काषाय स्वाद वाले तत्वों में 'पृथ्वी' और 'वायु' तत्व होते हैं। ये प्रकृति से शुष्क होते हैं और त्वचा के लिए अच्छे होते हैं। अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये वायु के विकृत होने पर कब्ज कर सकते हैं।

शहद यद्यपि स्वाद में मीठा होता है तथापि 'काषाय' होता है। इसका तत्वात्मक प्रभाव 'काषाय' प्रभाव के सदृश्य होता है। आंवले का प्रभाव भी विलक्षण रूप से काषाय होता है।

सामान्य रूप से हम यह सलाह देना चाहेंगे कि आहार में थोड़ी सी भिन्नता इसलिए रखी जाए ताकि 'छह रसों' का प्रतिनिधित्व भी हो जाए और भोजन में पुनरावृत्ति और नीरसता से भी बचा जा सके। छह स्वादों के विषय में चर्चा करने और आयुर्वेद के इस सिद्धांत को (एक संतुलित आहार वह है जिसमें छह रसों का समावेश रहता है) स्वीकार करने के बाद हम अपने अनुभवों को समझने के लिए बेहतर स्थिति में हैं। उदाहरण के लिए, प्रतिदिन दो चपातियों और उबली हुई सब्जी में 'मधुर रस' होता है जो वजन को घटने से रोकता है। भोजन में उसके मुकाबले में लवण, तिक्त अथवा कटु रस तत्व नहीं है। या फिर यदि सलाद के आहार (बावजूद इसके कि 'सलाद' में शुष्क मोटे-मोटे पदार्थ होते हैं जिससे 'मलाविरोध' नहीं होता) से व्यक्ति को कब्ज होता है क्योंकि उसके भोजन में 'स्नेहन' का अभाव है। सलाद में थोड़ा सा घी डाल दिया जाए तो इससे वजन

बढ़ना रुकता है और सुबह पेट साफ होता है।

आहार के संबंध में क्या करें, क्या न करें, क्यों और कैसे करें

स्वाद	प्रभावित महत्वपूर्ण *दोष*	तत्व	महत्वपूर्ण प्रभाव	उदाहरण
मधुर (मीठा)	↑ *कफ* ↓ *पित्त*	जल + पृथ्वी	अपचयी और वजन वृद्धि	चावल दाल गुड़, चीनी दूध कंद अंडा
अम्ल (खट्टा)	↑ *पित्त* ↓ वात	पृथ्वी + अग्नि	अग्नि दीपन और स्वाद सुधार	नींबू टमाटर साइट्रस फल
लवण (नमकीन)	↑ *पित्त* ↓ *वात*	अग्नि + जल	भोजन में स्वाद का समावेश	मछली नमक
तिक्त (कडुवा)	↑ *वात* ↓ *कफ*	वायु + आकाश	वजन घटना	मेथी करेला हल्दी मसाले
कटु (तीक्ष्ण)	↑ *पित्त* ↑ *वात* ↓ *कफ*	अग्नि + वायु	भूख तेज करना	काली मिर्च लाल मिर्च
काषाय (कसैला)	↑ *वात* ↓ *कफ*	पृथ्वी + वायु	त्वचा के लिए अच्छा	शहद आमला

शिशु विवशता में दुग्धाहार पर निर्भर करते हैं जो मधुर रस है। उन्हें संश्लेषण और शरीर निर्माण हेतु कफ दोष की अपेक्षा होती है। लेकिन वात का क्या होगा जिसका अव्यवस्थित होना अवश्यम्भावी है ? अधिकतर दादी-नानी 'वात' को शांत करने, आंत्र पीड़ा को रोकने तथा गैस बनने से पेट के फुलाव को रोकने हेतु तिक्त बालघुट्टी पिलाने की सलाह देती हैं।

मराठी ब्राह्मणों के परपंरागत दिन के भोजन में आयुर्वेद के सिद्धांतानुसार आदर्श वस्तुओं (आदर्श अनुपात में) का समावेश होता है। अतः इस जानकारी को ध्यान में रखते हुए, स्वस्थ और पतला रहने के लिए इस भोजन में छोटे-मोटे परिवर्तन करके इसे आजमाया जा सकता है। पतला होने के लिए उपवास करने



ब्राह्मण का भोजन—पूर्ण आहार

से वात और पित्त दोष कुपित होते हैं। इससे न तो कफ दोष पर प्रभाव पड़ता है और न ही मेदाधातु से मुक्ति मिलती है।

आयुर्वेद ने भोजन करने की प्रक्रिया को इस सीमा तक परिष्कृत किया है कि वह काव्य जैसा प्रतीत होता है। ये विशिष्ट मार्गदर्शक बातें (आहार-विधि-विशेष में जिसका अनुवाद करने पर अर्थ होता है—डाइट-प्रॉसेस-स्पेसिफिक) खाना पकाने और खाने के विषय में जानकारी देती हैं। इसमें शामिल आठ घटक इस प्रकार हैं :

व्यक्ति का शरीर गठन या प्रकृति : आरंभ में प्रकृति के विषय में अधिक विस्तार से चर्चा हो चुकी है। संक्षेप में, 'वात' प्रकृति वाले व्यक्ति को शुष्क और हल्के खाद्य पदार्थों से बचना चाहिए। तेल और मिष्ठान्न, खट्टी और नमकीन चीजों का सेवन किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति की 'पित्त' प्रकृति है तो उसे मीठे, तिक्त और काषाय स्वाद वाली 'शीत' वस्तुओं का सेवन करना चाहिए। 'कफ' प्रकृति वाले व्यक्ति को मधुर रस से बचना चाहिए और ऊष्ण, मसालेदार वस्तुओं का सेवन करना चाहिए।

भोजन का संसाधन (करान) : सरलतम रूप में हमारी भोजन पकाने की प्रक्रिया अत्यंत परिष्कृत है और आयुर्वेद के सिद्धांतों के अनुरूप प्रतीत होती है। इस प्रकार भूनना, तलना और परोसना भोजन को संसाधित करके सुगमता से पचने योग्य बनाते हैं।

खाने में लगाया जाने वाला तड़का इसलिए अच्छा रहता है क्योंकि जीरा अथवा सरसों तिक्त स्वाद में योगदान करते हैं और वायु में वृद्धि करते हैं जबकि तेल वायु को शांत करता है। सब्जियों के गतिक-विरोधी 'कफ समर्थक' कार्य का जीरे द्वारा प्रतिकार होता है। जीरा कच्चा भी और तड़के में भी लाभदायक होता है। तड़के वाले जीरे में तेल अथवा घी होने के कारण यह 'वात' को घटाता है।

संयोजन : आयुर्वेद में कुछ आहारिक घटकों को परस्पर विरोधी बताया गया है। इन्हें पचाना कठिन होता है और ये आंव उत्पन्न करने अथवा मंदाग्नि को जन्म देने का कारण बन सकते हैं। इन संयोजकों में फलों, मछली अथवा मांस के साथ दूध सेवन करना है। इसी प्रकार फलों के साथ दही के सेवन का निषेध है।

मात्रा : आहारिक घटकों की कुल मात्रा और व्यक्ति के हिसाब से मात्रा अपने आपमें महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के हिसाब से मात्रा व्यक्ति की प्रकृति पर निर्भर करती है। 'पित्त' प्रकृति वाले व्यक्ति को चावल, गेहूं जैसे 'कफ' वृद्धि

करने वाले पदार्थों की अधिक जरूरत होती है तो कफ प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए सब्जियां अधिक अपेक्षित हैं।

भोजन करने का समय एवं स्थान : यह 'अग्नि' की अवस्था पर निर्भर करता है। नाश्ते, दोपहर के भोजन और रात्रि के भोजन का ठीक समय अग्नि के अधिकतम क्रियाशील होने और भोजन के उचित ढंग से 'पाचन' पर आधारित है। ऋतुओं के सामंजस्य को भी ध्यान में रखना जरूरी है।

नियम : व्यक्ति को खाना खाते समय प्रसन्नचित्त अवस्था में होना चाहिए ताकि खाना अच्छी तरह पच जाये और आंव न बने। भोजन के बीच में पानी नहीं पीना चाहिए। जितना आवश्यक हो उतना ही खाना चाहिए, ठूंसकर भोजन नहीं करना चाहिए !

भोजनकर्ता : प्रत्येक खाद्य पदार्थ त्रि-दोष को शांत और संतुलित रखते हेतु एक खास क्रम में खाया जाता है। जब किसी को तेज भूख लगी होती है तो 'वायु' अव्यवस्थित होती है और वह क्षुधा संकोचन करती है। घी युक्त चावल और दाल खाने से कफ की वृद्धि होती है और 'वात' का स्नेहन होता है जबकि सब्जी और कढ़ी 'पित्त' की वृद्धि करती हैं। इससे पाचन में मदद मिलती है। आहार के अंतिम चरण में सामान्यतः शामक 'छाछ' पी जाती है जो 'पित्त' को कम करती है, किंतु 'वात' की वृद्धि कर सकती है। अतः इसके प्रतिकार के लिए भोजन समाप्त करते हुए काषाय स्वाद वाले सुपारी युक्त पान के सेवन की सिफारिश की जाती है। इससे मुंह का जायका भी अच्छा हो जाता है।

इसका अध्ययन करने के बाद भी कोई सभी बातों को माने या न माने, तथापि इन सिद्धांतों को स्वीकार करने का उत्तम तरीका यही है कि इन्हें व्यवहार में लाया जाये। संतुलित आहार के जरिए एक बार, एक महीना रोग मुक्त रहकर गुजर जाये तो आप उसे स्वीकार करके अपने घर में भी लागू करेंगे ! अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आमाशय केवल मनुष्य के हृदय तक का मार्ग ही नहीं है, अपितु जीवन में खुशी और स्वास्थ्य तक ले जाने वाला पथ भी है।

10

प्रथम और द्वितीय बाल्यावस्था

जीवनचक्र कठोर होता है और समय अपनी गति से चलता है। दार्शनिक व्यंजनाओं, जिनके लिए आयुर्वेद प्रसिद्ध है, के साथ सामंजस्य रखते हुए, कदाचित जीवन के कतिपय कटु सत्यों की स्वीकारोक्ति इसके प्रमाणचिह्न हैं। तथापि, आयुर्वेद की शक्ति जीवन की अवधि की वृद्धि करने वाली न सही तो भी जीवन की गुणवत्ता की वृद्धि तो करती ही है। जीवन में वृद्ध होने की प्रक्रिया जल्दी प्रारंभ हो जाती है (वास्तव में अभी हाल के कुछ अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि धमनियों का मोटा होना अठारह वर्ष की उम्र से ही शुरू हो जाता है)। हमें यह स्वीकार करना होगा कि जब हम जीवन के प्रमुख काल से गुजर रहे होते हैं तभी अवरोह-क्रम भी शुरू हो जाता है जिसके प्रभाव लगभग बीस वर्ष के बाद अनुभव होंगे।

यदि हम इन वास्तविकताओं को स्वीकार कर लेते हैं तो शायद हम यह समझना भी प्रारंभ कर देंगे कि आयुर्वेद युवावस्था में ही स्वस्थ जीवनशैली अपनाने का आग्रह क्यों करता है ? वृद्धावस्था में लेटने के लिए बिस्तर जितना अधिक आरामदेय हो सके रखना चाहिए। और ऐसा माता-पिता द्वारा बच्चे के लिए जन्म से ही किया जा सकता है।

बच्चे की देखभाल

गर्भाधान के समय से ही बच्चा व्यक्तिगत और विशिष्ट होता है। आयुर्वेद में उन बातों की जटिल रूप में विस्तृत व्याख्या की गयी है जिनकी ओर माता-पिता को बच्चे के गर्भाधान से भी पहले ध्यान देना चाहिए ताकि बच्चा न केवल स्वस्थ पैदा हो बल्कि वह शेष जीवन में भी स्वस्थ रह सके। यह अस्वाभाविक कल्पना लगती है क्योंकि गर्भावस्था में एक मां जो कुछ खाती है वह व्यक्ति को जन्म के दस वर्ष बाद कैसे प्रभावित कर सकता है ? यह प्रश्न और ऐसे कितने ही

अन्य प्रश्न इस अध्याय को पढ़ते समय मन में उठने स्वाभाविक हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक चिकित्साविज्ञान ऐसे बहुत से प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ है। केवल निजी अनुभव ही इस अवधारणा के सत्य को सिखाता है।

कहानी गर्भाधान से पूर्व प्रारंभ होती है। प्राचीन काल में मासिक-धर्म एक अभिशाप समझा जाता था और महिलाओं को उनके कामों से वंचित करके कम से कम चार दिन तक पृथक रखा जाता था। स्पष्टतः धार्मिक और यौनिक व्यंजनाओं पर अध्यारोपित यह व्यवहार ऐसा तथ्य था जिसके विषय में चिकित्साविज्ञान के पास या तो इसकी उपेक्षा के उद्देश्य से अथवा इस दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से कहने के लिए कुछ न कुछ अवश्य था। आयुर्वेद का यह मानना था कि मासिक-धर्म के दौरान जनन प्रणाली दुर्बल होती है और आगे किसी प्रकार की समस्याओं से बचने के लिए इस समय अत्यंत सावधानी बरतने की जरूरत होती है।

गर्भाधान के संबंध में विशेष नियम निर्धारित किए गए थे जैसे कि संभोग कब और कैसे करना चाहिए, तथापि इन नियमों में कुछ धार्मिक घटक प्रविष्ट हो गये। ऐसा कदाचित इसलिए हुआ कि बहुत से लोग इन नियमों की ओर ध्यान ही तब देंगे जब उन्हें धार्मिक जामा पहना दिया जायेगा। विशेष प्रकार की समस्याओं के हल के लिए विशेष उपचारों का सुझाव दिया गया : कामोत्तेजक, शिथिलक जैसे अन्य उपचार स्त्री को पुत्रवती बनाने में या भ्रूण को स्वस्थ बनाने में सहायक होते थे।

आधुनिक प्लास्टिक एवं पुनर्सर्जनात्मक शल्य चिकित्सा के जनक सुश्रुत को 'प्रासिविकी का जनक' की उपाधि से विभूषित किया जाता यदि अनके द्वारा गर्भाधान की अवस्थाओं पर लिखे गये शोधपूर्ण ग्रंथ पर ऐसे पुरस्कारों के लिए विचार होता। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि उस समय (कम से कम प्रत्यक्षतः) सूक्ष्मदर्शी अथवा एंडोस्कोप नहीं थे, सश्रुत द्वारा किया गया कार्य बेहद सराहनीय है। सुश्रुत ने अपनी संहिता में कहा है कि गर्भावस्था के प्रथम माह में भ्रूण बुलबुले की भांति आकारहीन होता है और दूसरे महीने में जाकर ठोस रूप में मनुष्य की आकृति जैसा हो जाता है। तीसरे मास में हाथ, पांव और सिर निर्धारित होते हैं। चौथे मास में सभी अवयव बन जाते हैं (और आधुनिक भ्रूण एवं प्रसव चिकित्सा विज्ञान इन कथनों की सत्यता की साक्षी देगा)। वस्तुतः उन्होंने कहा कि दिल लगभग इस समय धड़कना प्रारंभ कर देता है—पुनः एक आश्चर्यजनक प्रेक्षण। आश्चर्य होता है कि आखिर उस समय कौन-सा स्टेथॉस्कोप इस्तेमाल होता था।

गर्भावस्था के दौरान देखभाल

आयुर्वेद में गर्भावस्था के दौरान आहार को विशेष महत्व दिया गया है। गर्भावस्था के दौरान अच्छे संपूर्ण आहार के लिए तीन ठोस कारण बताए गये हैं—भ्रूण का विकास, मां का स्वास्थ्य और प्रसव के बाद दूध का बनना। गर्भावस्था के दौरान विशिष्ट देखभाल भ्रूण विज्ञान विषयक ज्ञान पर आधारित है। पहले तीन महीनों के दौरान जब अंगों का निर्माण हो रहा होता है तब संपूर्ण आहार और सामान्य व्यायाम के अतिरिक्त किसी विशेष आहार की व्यवस्था नहीं होती। चौथे महीने में, रसधातु निर्मित होती है और तब 'धातु' को शुद्ध रखने हेतु आहार और औषधियों की ओर ध्यान दिया जाता है। पांचवें महीने में 'रक्त' और 'मांस' बनते हैं, तब उड़द दाल और आवंला जैसे पौषक खाद्य पदार्थ देने चाहिए। छठे महीने में सारे अंग बन जाते हैं और उन्हें सशक्त बनाने की आवश्यकता होती है। इसके बाद इस महीने में त्वचा एवं बाल जैसी उपधातुएं आकृति ग्रहण करती हैं। अतः ऊतकों के विकास एवं शक्ति को प्रोत्साहित करने वाले तत्वों को आहार में लेने की आवश्यकता होती है। सातवें महीने में गोक्शुर (गोखरू) युक्त घी खाने की सलाह दी जाती है जबकि आठवें और नवें महीने में कब्ज न होने देने और पोषक आहार पर ज्यादा जोर दिया जाता है। सामान्य रूप से, जब तक चिकित्सक स्वयं ही सलाह न दे तब तक गर्भावस्था में औषधियों का सेवन नहीं करना चाहिए। यहां तक कि आयुर्वेद भी कहता है कि कुछ औषधियां विशेषकर विरेचक, गर्भावस्था में प्रतिनिदिर्शित होती हैं। यदि मलावरोध हो तो तैल एनिमा दिया जा सकता है और नवें महीने में तेल में भीगे योनि टेंपन (फाहा) की सलाह दी जाती है। तेल के फाहे श्रोणिय मांसपेशियों को स्फूर्ति और बल प्रदान करते हैं और प्रसव को सुगम बना देते हैं। आखिरकार, 'वात दोष' को शांत और संतुलित रखने हेतु तेल उत्तम औषधि जो है और शांत, संतुलित वात दोष सहज प्रसव सुनिश्चित करता है।

आधुनिक प्रसव चिकित्साकों द्वारा दी गयी सलाह के अनुरूप, आयुर्वेदिक चिकित्सकों ने भी गर्भावस्था के दौरान धूम्रपान और मादक पेय का निषेध किया है। वे इसमें एक कदम और आगे गये और कहा कि इस अवस्था में संभोग भी नहीं किया जाना चाहिए।

प्रसव के बाद मां की देखभाल

जिस प्रकार मां का मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ रहना महत्वपूर्ण है उसी प्रकार उसकी प्रसवोत्तर परिचर्या और देखभाल महत्त्वपूर्ण होती है। आज परखनली शिशुओं और पीड़ारहित प्रसव के आधुनिक युग में भी आयुर्वेद द्वारा

बताई गयी सावधानियां और उपचार विचारणीय हैं ! आयुर्वेद कहता है कि प्रसव के तुरंत बाद अग्नि एकदम मंद होती है और वायु विकृत हो जाती है। ऐसी स्थिति में उपचार त्रिआयामी होता है : अग्नि में सुधार हो, वात सामान्य हो, और दूध का स्तर आदर्श स्थिति में हो। इस प्रकार प्रसव के बाद प्रारंभिक दस दिनों में श्रम कम से कम हो, हल्का आहार लिया जाये और अग्नि का घी और सोंठ से दीपन किया जाये। तेल की मालिश जो प्रसव के बाद होने वाले दर्द और पीड़ा को रोकती है, मूलतः वात को शांत करती है। मां को ठंड लगने से बचाने हेतु उसके कक्ष को गरम रखना चाहिए और वातावरण भी खुशहाल होना चाहिए क्योंकि इसका प्रभाव, मां और बच्चे को प्रसन्न रखने में दीर्घकाल तक बना रहता है। नयी मां को दिए जाने वाले 'दशमूलारिष्ट' और 'काढ़े' उसकी हालत को सामान्य बनाने में सहायक होते हैं।

स्तनपान करवाना

आयुर्वेद में उल्लेखानुसार स्तनपान करवाने की सर्वाधिक रोचक बात केवल यह नहीं है कि स्तनपान को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए बल्कि दूध की गुणवत्ता वे प्रभाव हैं जो बच्चे पर पड़ सकते हैं। कहने को कहा जा सकता है कि दूध तो आखिर दूध है और कल्पना की कितनी ही उड़ान भरने के बावजूद, कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन और खनिज तत्व से अधिक गुण दूध में उपलब्ध नहीं होते ! किंतु आयुर्वेद वात-पित्त-कफ दोष की किस्मों के लिए दूध को उत्तरदायी मानता है और इसी आधार पर बच्चे की किसी भी परेशानी के लिए मां के आहार को दोषी ठहराता है। जिस मां ने तपती गर्मी में काफी आम खाये हैं, उसके दूध में निश्चित रूप से आम का असर रहेगा। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मां के स्तनों का दूध 'रसधातु' की उपधातु है और प्रत्यक्ष रूप से रसधातु की गुणवत्ता द्वारा प्रभावित होता है जो उस भोजन से बनती है जो हम करते हैं।

बनने वाले दूध की गुणवत्ता आसानी से परखी जा सकती है। दूध की एक बूंद पानी भरे बर्तन में टपका दें, यदि यह फैल जाती है तो दूध अच्छी गुणवत्ता वाला है किंतु यदि बूंद डूब जाती है तो इसका मतलब है कि दूध कफ की वजह से भारी है (अतः मां के आहार में से 'कफज' तत्व निकालने होंगे)। यदि दूध की बूंद तैरने लगती है तो यह 'वायु' के कारण है (बच्चों को गैस के साथ दस्त होगा और वह उदर शूल से पीड़ित होगा)। 'दशमूलारिष्ट' इसके लिए मनपसंद औषधि है। यदि पित्त की अधिकता है तो दूध में पीलापन रहेगा। इसके लिए मां को शतावरी नामक औषधि दी जाती है।

शिशु की देखभाल

आयुर्वेद में शिशु की देखभाल से संबंधित कुछ नियम निर्धारित किए हैं ताकि बच्चे का आहार उत्तम हो, उसका स्वास्थ्य सुधरे और रोगों के प्रति प्रतिरोधक शक्ति में वृद्धि हो सके। कुछ घरों में तो आज भी ऐसी अनेक गतिविधियां होती हैं। दूसरे छोर पर युवा माताएं हैं जो यह सोचकर कि ये तो अनपढ़ और पुराने फैशन की दादी-नानी की मूर्खतापूर्ण सनक हैं, शरमाकर इन विधियों से दूर रहती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रति और अधिक विवेकपूर्ण एवं कम अविवेचित अभिगम अपेक्षित है। इसके लिए तथ्यों का अध्ययन करने और समझदारी का आधुनिकता तथा अंधविश्वास और परंपरा के बीच चयन करने की आवश्यकता है।

तेल की मालिश

सठियाई हुई दादी-नानियों और नयी-नयी बनी माताओं के बीच तेल की मालिश बहस का नाजुक मुद्दा है। नयी माता पूछती है कि मुझे अपने नाजुक से बच्चे की मालिश की क्या जरूरत है ? बदले में दादी-नानी कहती हैं कि मालिश की जरूरत न केवल बच्चे को बल्कि उसकी मां को भी है क्योंकि यह 'वात' को कम करती है। गर्भावस्था के दौरान जो वायु विकृत हो जाती है, प्रसव के बाद उसे ठीक करना जरूरी होता है। नन्हे शिशु को जब आहार केवल कफ बढ़ाने वाले तत्व प्रदान करता है तब 'वायु' का शमन करना होता है। एक अन्य विरोध का मुद्दा यह है कि शिशु के कानों में और खोपड़ी में तेल डाला जाये या नहीं। ये उपयोगी विधियां हैं बशर्ते सभी समुचित स्वास्थ्य संबंधी सावधानियां बरती जाएं। अन्य रंध्रों में भी, तेल का इस्तेमाल करने की वकालत खतरनाक प्रतीत होती है : अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा यह बताया गया है कि तेल की मालिश शरीर में विटामिन तत्वों की वृद्धि करती है और इस प्रकार वृद्धि को प्रेरित करती है ? इससे पुनः आयुर्वेद के मत की पुष्टि होती है।

तेल की मालिश के बाद, गर्म पानी से स्नान की सलाह दी जाती है। नहाने के पानी का तापमान गुनगुना रहता है, न ज्यादा इतना गर्म (कि बच्चे की त्वचा को झुलसा दे या फिर बच्चा दिन भर ढीला-ढीला सा रहे) न ज्यादा ठंडा रखा जाता है (जिससे कफ दोष उत्पन्न हो जाए)। स्नान के बाद बच्चे को सुगंधित धूप सुसुवासित वातावरण में रखना चाहिए। यदि बच्चे में पित्त दोष का अतिरेक

है (इतने छोटों में वह बहुत ही कम पाया जाता है) तो इसकी सलाह नहीं दी जाती। यदि बच्चे को जुकाम है तो धूप के वफारे में अजवायन मिलाने से मदद मिलेगी। अलग कोने में रखने से पूर्व धूप के धुएं को शिशु कक्ष में फैलने दिया जाता है। इससे शिशु कक्ष में तकलीफ देने वाले मच्छर तथा अन्य कीट-मकोड़े नहीं रहने पाते।

बालघुट्टी

आयुर्वेद में बच्चे को तिक्त औषधि देने का प्रावधान है, (विभिन्न तिक्त औषधियों के लिए 'जादुई गोली' अध्याय देखें) ताकि शिशु अवस्था में छोटी-मोटी बीमारियों का निवारण हो सके। इस औषधि को बालघुट्टी कहते हैं। 'बालघुट्टी' में मुख्य औषधियां होती हैं—हरड़ (टर्मिनेलिया चेबुला), बहेड़ा (टर्मिनेलिया बेलेरिका), अश्वगंधा (विथानिया सोमनीफेरा), काकड़शिंगी (ऑनाकार्डियासेरुसकीदानिया), अतिविष (एकोनिटम हैटरोफीलम), वे खंड (एकोरस केलामस) और नागर मोथा (साइपेरस रोटनडस)। इसके अतिरिक्त विशेष प्रभाव के लिए इन औषधि वनस्पति का भी इस्तेमाल किया जा सकता है : त्वचा के लिए अनंतमूल (हेमिडेसमास इंडिकस), सोंठ (सूखा अदरक) अच्छी पाचक होती है और पिप्पली (पीपर लौंगम) फेफड़ों के लिए अच्छी होती है। कुछ अन्य बहुमूल्य कड़वी औषधियां हैं—किरायत (स्वेरटिया चिराटा), इंद्रजव (होलोरेना एंटिडीसेंटेरिका के बीज अथवा कुटज), जायफल (नटमेग), माईफल (क्वेरकस इन्फेक्टोरिया) मुरुदाशेंग, (हेलिक्टेरस आईसोरा), हलदी (करक्यूमा लोंगा), कुलंजन (एलपीनिया गलंग), अकलकरा (एनासाइक्लस पाइरेथ्रम), कपिला (मेलोटसफिलीपिनेंसिस), जेष्ठमध (ग्लाइसेरिजा ग्लाब्रा), इलायची और अनार के छिलके (कर्डिमम एंड पॉमेग्रेनेट पील)। जब कभी विशेष तकलीफ हो तब इन औषधियों का अतिरिक्त रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए पिप्पली खांसी के लिए और सोंठ, जायफल अथवा माईफल अतिसार के लिए अति लाभदायक होगी। इसे दिन में एक बार देने से डाक्टर की जरूरत नहीं पड़ेगी। यह सेब से कहीं ज्यादा उपयोगी है।

अश्वगंधा *(विथानिया सोमनीफेरा)*

अश्वगंधा की जड़ें भूरे रंग की दिखाई देती हैं और सबसे छोटी उंगली जितनी मोटी होती हैं। इनमें चूंकि अश्व की हल्की-सी गंध होती है इसीलिए इसका नाम अश्वगंधा है। इसका पौधा रोजमर्रा की जिंदगी में 'असकंद' नाम से जाता है। इसे भारतीय 'जिन्सेंग' भी कहते हैं क्योंकि इसके गुण मूल और प्रसिद्ध कोरियाई

जिन्सेंग के समान हैं जिसका वैज्ञानिक जगत और बाजार में भी अत्यधिक महत्व है। इसे बालघुट्टी में डाला जाता है क्योंकि अश्वगंधा वृद्धि को प्रेरित करती है और इसमें उनींदा करने की प्रवृत्ति होती है। इस औषधि का लेटिन नाम 'विथानिया सोमनीफेरा' है और सोमनीफेरा का अर्थ है नींद लाने वाली !

अतिविष *(एकोनिटम हैटरोफीलम)*

इस औषधि की छोटी, पीलापन लिए सफेद गोल जड़ें होती हैं जिनकी बड़ी कली की सी आकृति होती है—चमेली की कली से लगभग 4-6 गुना बड़ी। जड़ का अनुप्रस्थ खंड दूध सा सफेद होता है जिस पर केले के बीज जैसे चार काले दाग होते हैं। यद्यपि यह औषधि 'वत्सनाम' जाति की है और यदि समुचित ढंग से इस्तेमाल की जाए तो विषाक्त नहीं है। असकंद के साथ अतिविष बालघुट्टी के लिए अत्यंत मूल्यवान है। जब बच्चे को ज्वर या अतिसार हो तो यह विशेष लाभकारी सिद्ध होती है।

काकड़शिंगी *(ऑनाकार्डियासेरुसकीदानिया)*

यह बच्चों में जुकाम और खांसी के उपचार के लिए बेहतर औषधि है। नागर मोथा काकड़शिंगी और अतिविष को बालघुट्टी में मिला दिया जाता है तो यह, जुकाम, खांसी, ज्वर और अतिसार के लिए निरोधक का कार्य करती है।

सगरगोटा *(सीसलपिना क्रिस्टा)*

इसे भूनकर इसके आंतरिक भाग का इस्तेमाल किया जाता है। यह औषधि बच्चे को गैस की तकलीफ से छुटकारा दिलाती है। यह ज्वर के लिए बेहतरीन औषधि है। यदि गर्भवती महिला उदरशूल से पीड़ित हो तो उसे सगरगोटा, नमक, हींग और अजवायन का मिश्रण दिया जा सकता है। यह उन महिलाओं को भी काफी हद तक आराम पहुंचाता है जो मासिक-धर्म के दौरान उदरशूल और पीठ दर्द से परेशान रहती हैं।

माईफल *(क्वेरकस इन्फेक्टोरिया)*

इसमें भी ऊपरी छिलका सगरगोटा की भांति सख्त होता है किंतु स्पर्श करने पर खुरदरा महसूस होता है। इसमें महीन छिद्र होते हैं और इसका रंग काला होता है। यह बालघुट्टी का अनिवार्य घटक है। अतिसार से पीड़ित बच्चों के लिए माईफल लाभदायक होता है।

मुरुदाशेंग *(हेलिक्टेरस आइसोरा)*

बालघुट्टी का एक और अनिवार्य धटक 'मुरुदाशेंग' है। यह अपनी विषम और ऐंठन युक्त आकृति की वजह से आसानी से पहचाना जा सकता है। यह मरोड़, गैस और अतिसार में आराम देता है।

जेष्ठमध *(ग्लाइकेसेरिजा ग्लाब्रा)*

यह श्वसन प्रणाली संबंधी कई गड़बड़ियों के साथ-साथ खांसी में भी लाभदायक है। जेष्ठमध, मल को समुचित तरीके से बाहर निकालकर, आमाशय में बनने वाली गैस को कम करता है।

कुलंजन (एलपीनिया गलंग)

यह बालघुट्टी में इसलिए डाला जाता है, क्योंकि समझा जाता है कि इससे शिशु जल्दी बोलना सीखते हैं। यह गैस को कम करता है व मल को बाहर निकालकर पेट साफ रखता है।

डिकेमाली *(गारडेनिया गम्मीफेरा)*

यह गोंद जैसा दिखाई देता है। डिकेमाली और चीनी का मिश्रण दिन में तीन बार लेने से अतिसार को नियंत्रित करने में मदद मिलती है। डिकेमाली के छाने हुए निशेक का अवलेह (पेस्ट) बनाकर मसूड़ों पर लगाने से दांत निकलते समय उत्तेजना और चिड़चिड़ाहट कम होती है।

अकलकरा *(एनासाइक्लस पाइरेथ्रम)*

इसे इसकी बनावट से पहचाना जा सकता है। इससे जीभ पर चुभन महसूस होती है और मुंह से काफी लार गिरती है (नालीकरण को प्रेरित करता है)। यह जिह्वा को ढीला करके आवाज को सुधारता है।

कपिला *(मेलोटसफिलीपिनेन्सिस)*

यह नसवार के रंग का लाल पाउडर होता है जो फलों पर पाया जाता है। यह पाउडर पानी पर तैरता है, घुलता नहीं है। यह पाउडर बच्चों को शहद में मिलाकर दिया जाना चाहिए। इससे पेट अच्छी तरह साफ होता है

यह बच्चों का मामला है इसलिए इस बात की सावधानी बरतनी अपेक्षित है कि घरेलू नुस्खे डाक्टर का स्थान नहीं ले सकते। इसलिए इन नुस्खों को केवल

छोटी-मोटी तकलीफ के लिए ही इस्तेमाल करना चाहिए। बीमारी का समुचित निदान होना चाहिए और अधकचरी सलाह पर अमल नहीं करना चाहिए। इसके अलावा कुछ औषधियां दुर्लभ हैं, इनका समुचित ज्ञान होना आवश्यक है ताकि नकली औषधियों से बचा जा सके। चाहे, बेशक कुछ महंगी पड़ें किंतु औषधियों विश्वसनीय दुकान से लेना ही उत्तम होगा (स्मरण रहे, कि आयुर्वेदिक औषधियां सस्ती नहीं होतीं)।

वृद्ध लोगों की देखभाल

यह तो हमें पता ही है कि आयु जल्दी ढलनी शुरू हो जाती है, हालांकि यह दिखाई 60 वर्ष के बाद ही देती है। अतः आयुर्वेद के सिद्धांतों का पालन करते हुए और प्रकृति के मनमौजी स्वभाव को ध्यान में रखते हुए हम पर्यावरण के अनुरूप आहार की आयोजना करें क्योंकि इससे स्वस्थ वृद्धावस्था के लिए स्वतः ही मार्ग प्रशस्त होगा।

वृद्धावस्था में उपचय (संश्लेषित प्रक्रिया) की अनुपस्थिति और अपचय (बाधित प्रक्रिया) की अधिकता होना, वृद्धावस्था की विशेषता है। इससे समग्र ऊर्जा की क्षति होती है। अंग क्लांत प्रतीत होते हैं। यदि उत्साह कायम भी हो तो भी शरीर साथ नहीं देता। मानसिक और शारीरिक थकान हो जाती है। दृष्टि कमजोर हो जाती है और श्रवण शक्ति क्षीण हो जाने से पक्षियों का कलरव भी सुनाई नहीं देता। व्यक्ति वृद्धावस्था के सुनेपन में कैद हो जाता है जहां मात्र स्मृतियां रह जाती हैं और रहता है समय बिताना क्रूर मृत्यु की प्रतीक्षा में। बेशक बीमारी कोई न हो, तब भी शरीर से वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। पीठ दर्द, कब्ज, अनिद्रा आदि बहुत-सी छोटी-मोटी बीमारियां जीवन को शोचनीय बना देती हैं।

इन सभी परिवर्तनों के लिए आयुर्वेद सीधे मंद होती अग्नि और विकृत वायु दोष को कसूरवार ठहराता है। वृद्धावस्था की छोटी-मोटी बीमारियों से निपटने के लिए उत्तम तरीका यह है कि अग्नि को ईंधन उपलब्ध करवाया जाये, वात को नियंत्रित किया जाये, शरीर में ऊतकों की क्षति कम से कम हो और तकलीफ पहुंचाने वाली बीमारी विशेष का उपचार किया जाये। क्षीण अग्नि को ध्यान में रखते हुए व्यक्तियों को निर्धारित समय पर लघु आहार करना चाहिए, यदि भूख न हो (विशेषकर रात्रि में) तो अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। खट्टे और नमकीन पदार्थ सामान्यतः 'वात' को नियंत्रित करते हैं और मजे से खाए जा सकते हैं। शरीर को ऊर्जा देने वाला मिष्ठान्न भी खाया जा सकता है। जिस प्रकार बाल्यावस्था

में व्यक्ति केवल दूध पर आश्रित रहता है उसी प्रकार वृद्धावस्था अथवा अपनी दूसरी बाल्यावस्था में भी निर्भर रह सकता है। कभी-कभी मंद अग्नि के कारण दूध आसानी से नहीं पचता क्योंकि इससे गैस बनती है और अजीर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में आंधा चम्मच सोंठ का चूर्ण लेना फायदेमंद होता है। चूंकि ठंडा पानी पहले से टिमटिमाती सी अग्नि को बिलकुल बुझा सकता है, इसलिए ठंडा पानी किसी कीमत पर नहीं पीना चाहिए। तिल के तेल से मालिश करने से 'वात' को ठीक से नियंत्रित किया जा सकता है। खोपड़ी में, कान और नाभि प्रदेश में तेल लगाने से वायु द्वारा उत्पन्न खुश्की दूर होती है।

वृद्धावस्था में त्वचा शुष्क और भुरभुरी सी हो जाती है, झुर्रियां पड़ जाती हैं। इन प्रभावों को मालिश द्वारा आसानी से कम किया जा सकता है।

अधेड़ अवस्था में कब्ज की शिकायत ज्यादा रहती है (भूख न लगने और खाना न पचा पाने की शिकायतें भी रहती हैं)। ऐसा असंतोषजनक आहार और असामान्य वायु के कारण होता है। आहार में घी अथवा तेल और कटहल व पपीता जैसे फल अच्छी मात्रा में होने चाहिए ताकि न केवल आहारनली का बल्कि देर तक बुढ़ापा न आने देने में सहायक रक्त कोशिकाओं का स्नेहन हो सके।

वस्ति अथवा एनिमा से 'वात' में आशातीत सुधार होता है। तिल के तेलयुक्त एनिमा से आंत्रीय श्लेषमिक अस्तर सशक्त बनता है, श्लेषमा का स्नेहन करता है और 'वात दोष' को सामान्य बनाता है।

त्रिफला चूर्ण (हरड़, बहेड़ा और आंवला युक्त) गंधर्वहरित की (मरक्यूरिक सलफाइड और हरड़ युक्त) अथवा सुखसारक चूर्ण जैसी औषधियां, पेट को ठीक रखती हैं। सामान्यतः लंबे समय तक विरेचकों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए अन्यथा, बार-बार ऐसा करने की जरूरत पड़ने लगती है। जब हम विरेचकों का इस्तेमाल जारी रखते हैं तो आंतें उनकी अभ्यस्त हो जाती हैं और श्लेषमा में परिवर्तन होते हैं जो आंतों की सामान्य गतिशीलता के लिए अनुकूल नहीं होते। व्यक्ति विरेचकों का अभ्यस्त हो जाता है और तब इसे छोड़ना बहुत मुश्किल होता है।

वात को भड़काने वाले हरे चने, मटर, पत्तों वाली सब्जियां या मूंग और मटकी का सेवन नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर, गोभी, पत्ता गोभी, करेला, लौकी, शकरकंद और मूली जैसी सब्जियां आहार में शामिल की जा सकती हैं।

आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण पहलू है रोकथाम पर अधिक बल देना। रसायन चिकित्सा अथवा कायाकल्पचिकित्सा में इसका दृष्टांत मौजूद है। यह चिकित्सापद्धति उपचार के लिए नहीं बल्कि रोकथाम के लिए होती है और वृद्धावस्था के कुप्रभावों

को रोकने के लिए इसे जीवन के चौथे दशक में अपनाने की सलाह दी जाती है। सामान्यतः दी जाने वाली औषधियों में जाना-माना च्यवनप्राश शामिल है जिसमें आंवला और हरितकी काफी मात्रा में होते हैं। यह चिकित्सा जीवन में जल्दी की जाती है ताकि ढलती वय के अपरिहार्य परिणामों को या तो समाप्त किया जा सके या फिर उसमें विलंब हो सके। यह चिकित्सा न तो वृद्धावस्था को रोकती है और न अमरत्व प्रदान करती है ! आयुर्वेद ने कभी ऐसा दावा भी नहीं किया कि वह वृद्ध होने या मरने पर रोक लगा सकता है; उसका तो यह कहना है कि हम खुशी-खुशी, गरिमा के साथ वृद्ध हों। अतः सहगामी चिकित्सा पद्धति की परवाह किए बिना, रसायन चिकित्सा को जादू की गोली के रूप में नहीं लिया जा सकता। सामान्यतः रसायन चिकित्सा में पंचकर्म प्रक्रियाएं शामिल हैं जिनके संपन्न होने पर औषधियां दी जाती हैं। रसासन चिकित्सा में ऐसे विशेष निर्धारित आहार और व्यवहार (आचरण) शामिल हैं जो आज फैशन समझे जाने वाले आहार विहार से सर्वथा विपरीत हो सकते हैं। सामान्यतः रसायन चिकित्सा सर्दी के मौसम में की जाती है जब अग्नि औषधियों को पचाने और आत्मसात करने की दृष्टि से काफी प्रबल होती है।

इस उपचार से ऊतक, क्षति पहुंचाने वाले बाह्य और आंतरिक कारकों के मुकाबले अभेद्य बन जाते हैं जिससे रोगों को रोकथाम हो जाती है। वस्तुतः यह जटिल पद्धति है तथापि इसका आदर किया जाना चाहिए।

उम्र/अवस्था से जुड़ी समस्याओं की रोकथाम का एक पहलू 'सद्व्यवहार' है। सभी व्यवहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से यह मानना चाहिए कि इसका संबंध आहार-व्यवस्था तथा आंत्र देखभाल, निजी स्वास्थ्य तथा अन्तर्वैयक्तिक संबंधों जैसी दैनिक आदतों से है। इस प्रकार इस सारी कहानी की यही शिक्षा है कि 'अपने मन और तन को निर्मल रखें और समझ लें कि आपने आधी लड़ाई तो जीत ही ली।'

11

जादुई गोली

जर्मन वैज्ञानिक पॉल एरलिख ने इस सदी के शुरू में कहा कि हमें रोगों के उपचार के लिए 'जादुई गोली' की जरूरत है। इस जादू की गोली से यह अपेक्षा थी कि वह मानव को बिना नुकसान पहुंचाए रोगों को समाप्त करेगी। ऐलोपैथी में 'जादू की गोली' की संकल्पना अब भी मान्य है। हम ऐसी भ्रामक आदर्श औषधि की सतत खोज करने में लगे हैं जो हानिप्रद न होकर केवल प्रभावकारी ही होगी।

अब तक हमने आयुर्वेद का रुझान रोग की चिकित्सा की अपेक्षा रोग की रोकथाम के रूप में ही देखा है। संक्षेप में इसके न फलने-फूलने के पीछे कारण यह है कि इसमें जादू की गोलियों का कोई प्रावधान नहीं है। आयुर्वेद ने तो विशिष्ट जीवन शैलियां निर्धारित कीं जो आज की सामाजिक संरचना के साथ मेल नहीं खातीं। तथापि आयुर्वेद में जड़ी-बूटी आधारित आम सामान्य रोगों के लिए निर्धारित उपचारों का उल्लेख मिलता है। दादी-नानी के नुस्खों की पोटली चिकित्सक की जगह तो नहीं ले सकती, पर हां, 'घरेलू प्राथमिक उपचार सहायता किट' में उसे अवश्य रखा जा सकता है। इसके पूर्व कि हम वास्तव में ऐसी किट का प्रतिपादन करें, हमें उसके पीछे निहित सिद्धांत को देखना चाहिए।

आयुर्वेदिक औषधिविज्ञान के बारे में समझने की पहली बात यह है कि औषधियों को आहार के मात्र विभिन्न भेदों के रूप में देखा जाता है। शरीर भी औषधियों के साथ लगभग इसी तरह से व्यवहार करता है जिस तरह आहारिक घटकों के साथ। अधिकतर औषधियां प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त की जाती हैं। इससे भी पुनः इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि ये औषधियां आहार से मिलती-जुलती हैं। यह कदाचित इस कारण को रेखांकित करता है कि आयुर्वेदिक औषधियां (निर्धारित विधि से तैयार और इस्तेमाल की गयी हैं) हानिप्रद नहीं हैं। आखिरकार तो औषधियां खाने के अधिक परिष्कृत और युक्तियुक्त तरीके का प्रतिनिधित्व

करती हैं ! आयुर्वेद औषधीय-पौधों का एक रोचक पहलू उनकी किस्म और 'बल' का है।

एक कहानी के मुताबिक बुद्ध के समय में, जीवक नाम के चिकित्सक को उसके गुरु ने जंगल में जाकर ऐसी जड़ी-बूटी लाने के लिए कहा जिसका चिकित्सा की दृष्टि से कोई मूल्य न हो। जीवक ने अपने इर्द-गिर्द के पर्यावरण में ही नहीं बल्कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त ऐसी खोज की किंतु वह ऐसी कोई औषधि नहीं खोज सका जो चिकित्सा की दृष्टि से गुणहीन हो ! तनिक कल्पना कीजिए अपने देश के जैव वैविध्य की और वनस्पति एवं प्राणी समूहों में विद्यमान उन असीम संभावनाओं की जिनका दोहन ही नहीं हुआ है !

जिस तरह आहारिक घटकों के छह स्वाद हैं उसी प्रकार औषधियों को भी स्वाद और रस के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। यह सर्वाधिक प्राथमिक वर्गीकरण है, हालांकि आयुर्वेदिक औषधिविज्ञान इससे कहीं अधिक जटिल और विकसित है। हमें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल एक वर्गीकरण के बारे में जान लेना पर्याप्त है। ये छह स्वाद हैं : मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और काषाय। ऐसे स्वाद वाली औषधियों की अपनी विशेषताएं हैं जो विशेष परिस्थितियों में उन्हें आदर्श ठहराती हैं। शरीर उनके साथ अपने ढंग से व्यवहार करता है जिसके फलस्वरूप औषधि 'विपाक' उत्पन्न होता है। यह 'विपाक' प्रभाव करने वाली वास्तविक औषधियों का 'चयापचयी' प्रतीत होता है। दो औषधियों में समान 'रस' हो सकता है किंतु उनका विपाक भिन्न होता है जिसकी वजह से उसके कार्यों में और उन्हीं के अनुरूप उनके उपयोग में भी थोड़ा अंतर होता है। एक अन्य कारक जिस पर विचार किया जाता है वह है रोगी की 'प्रकृति' अथवा शारीरिक संरचना। इस प्रकार जो औषधि 'पित्त दोष' की वृद्धि करती है वह पित्त प्रकृति रोगी में 'अति अम्लता' और अजीर्ण उत्पन्न कर सकती है जबकि 'कफ प्रकृति' में बिना पार्श्व प्रभावों के, औषधि का असर फायदेमंद होगा।

आइये, अब हम विभिन्न वर्गों की कुछ औषधियों का परिचय प्राप्त कर लें।

यहां हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि औषधियों की सूची पूर्ण नहीं है और यदि रोगी की हालत का निदान संदिग्ध हो तो इनका प्रयोग न किया जाए। यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि आयुर्वेद के नियमों को ध्यान में रखे बिना इस्तेमाल करने से अथवा प्रामाणिक स्रातों से न प्राप्त करने पर आयुर्वेदिक औषधियां हानिकर हो सकती हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये औषधियां ऐलोपैथी द्वारा हो रहे उपचार को भी प्रभावित कर सकती हैं। इसलिए इनके इस्तेमाल में अधिक सावधानी की जरूरत है।

तिक्त औषधियां

जो सामान्य नियम आहार के लिए लागू होते हैं, वे औषधियों पर भी लागू होते हैं। इस प्रकार, जिस तरह मीठे खाद्य पदार्थ 'कफ दोष' की वृद्धि करते हैं और तिक्त पदार्थ उसे घटाते हैं। औषधियां भी ऐसा ही करती हैं। तिक्त स्वाद को स्वास्थ्यवर्धक 'रस' कहा जाता है। तिक्त औषधियां स्वाद ग्रंथियों को प्रेरित करती हैं। प्यास कम करती हैं, वसा संग्रह को घटाती हैं, नाक से पानी बहना बंद करती हैं, भोजन पाचन को प्रेरित करती हैं तथा आंतों का रेचन करती है। ये औषधियां त्वचा रोगों में भी प्रभावी होती हैं।

चूंकि तिक्त स्वाद वाले तत्व 'कफ' कम करते हैं, 'वात' की वृद्धि करते हैं और अग्नि को प्रेरित करते हैं, अतः ये बढ़े हुए 'कफ दोष' (मधुमेह) क्षीण अग्नि (अजीर्ण) तथा बढ़े हुए 'वात' (गठिया) से उत्पन्न दशाओं के उपचार हेतु उपयोगी होते हैं। आहार में शामिल की जाने वाले तिक्त वस्तुओं का उल्लेख 'आहार' वाले अध्याय में किया गया है जो कि उपयोगी घरेलू नुस्खे हैं।

तिक्त स्वाद वाली औषधियां जो घर में रखी जा सकती हैं, उनमें 'नागर मोथा', वेखंड 'अनंमूल', 'सगरगोटा', 'किरायत' और 'इंद्रजव' शामिल हैं। 'नीम' का स्वाद भी तिक्त होता है और बहुत से रोगों से छुटकारा दिलानेवाली आदर्श औषधि के रूप में इसकी गिनती होती है। नीम को, त्वचा के फंगस संक्रमण, घावों, खुजली और जोड़ों के दर्द के लिए बाह्यतौर पर इस्तेमाल किया जा सकता है। किसी भी प्रकार के चर्म संक्रमण में नीम की पत्तियों का काढ़ा जादुई प्रभाव वाला बताया जाता है।

यह मसूरिका (चिकन पॉक्स) जैसी विस्फोटीय त्वचा दशाओं में खुजली के उपचार की आम दवा थी। कृमि संक्रमण, यकृत रोग, स्थूलता और श्वासनली शोथ (स्मरण रहे कि तिक्त होने के कारण यह 'कफ दोष' से लड़ता है) में नीम का काढ़ा पिया जा सकता है। नीम अपने बेहतरीन प्रतिजैविकी गुणों के कारण ज्वर को भी कम करता है। नीम के सर्वशक्तिमान चिकित्सकीय गुणों के संबंध में परियों की कहानी जैसी रोचक एक लोककथा इस प्रकार है : "एक नवविवाहिता अपने पति के काम पर जाने पर भी उसे लंबे समय तक अपनी आंखों से ओझल नहीं होने देना चाहती थी। तब भी सामाजिक रीति-रिवाज के कारण वह अपनी यह इच्छा खुलकर नहीं व्यक्त कर सकती थी। इसलिए उसने ऐसी तरकीब सोची कि उसका पति जल्दी लौट आया करे। जब पति अपनी पत्नी से विदा होने लगा तो उसकी पत्नी ने कहा कि उसके काम पर जाने का स्वागत है पर दो शर्तें

हैं—पहली शर्त तो यह कि अपनी यात्रा के दौरान वह इमली के पेड़ के नीचे विश्राम करे और दूसरी शर्त यह कि लौटते समय नीम के वृक्ष के नीचे विश्राम करे। उसके पति ने दोनों शर्तें सहर्ष स्वीकार कर लीं और काम पर रवाना हो गया। इमली का वृक्ष स्वास्थ्य के लिए हानिकर वातावरण उत्पन्न करता है, अतः वह आदमी इमली के वृक्ष के नीचे विश्राम करने पर अस्वस्थ हो गया। इसलिए मजबूरी में वहीं से वापस लौट पड़ा लेकिन अपना दूसरा वायदा पूरा करने के लिए उसने लौटते में नीम के वृक्ष के नीचे विश्राम किया। वह एकदम स्वस्थ हो गया और अपनी पत्नी के पास जल्दी स्वस्थ हालत में पहुंच गया, जैसाकि वह चाहती थी। पर्यावरण विशेषज्ञ तक इस तथ्य की पुष्टि करेंगे कि आस-पड़ोस में नीम के वृक्ष इर्द-गिर्द के वातावरण को स्वस्थ रखने में सहायक होते हैं।

नीम के कडुनीम भी कहते हैं। इसका नाम इसके स्वाद का औचित्य बताता है। और सुनने में मधुर लगने वाली गुलवेल ? गुडुची (अथवा अमृत) के नाम से जानी जाने वाली यह औषधि अपने मधुर नाम के बावजूद तिक्त स्वाद वाली है ! यह उन शक्तिशाली औषधियों में से एक है जिसके प्रभाव साधारण ज्वरान्तक (ज्वर घटाने वाली) से प्रतिरक्षा प्रेरक तक हैं। आज नीम के साथ-साथ इस औषधि पर अनुसंधान की जरूरत है।

आयुर्वेद में एक आम इस्तेमाल की औषधि 'आरोग्यवर्धिनी' है। जैसा कि नाम से पता चलता है, ('आरोग्य' का अर्थ है स्वास्थ्य और 'वर्धिनी' का अर्थ है वृद्धि) इस औषधि के प्रभाव का क्षेत्र विस्तृत है। इस औषधि का मुख्य घटक कुटकी (पिकरोराइजा कुर्रोआ) पौधा होता है जिसका स्वाद तिक्त होता है और यह पीलिया रोग में प्रभावकारी है।

अलोय वेरा (कोरफड) जो कि कुमारी-असव का प्रमुख संघटक है, यकृत को व्यवस्थित करने हेतु निर्धारित एक अन्य तिक्त औषधि है। संदल या चंदन भी जो अपनी प्रकृति में शीतल होता है तिक्त स्वाद वाली औषधि है।

अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'तिक्त गोली' सर्वाधिक स्वास्थ्यवर्धक होती है ! इसलिए तिक्त काढ़ा यदि रोज नहीं तो सप्ताह में एक बार लेने की वर्षों पुरानी परंपरा अत्यंत प्रभावकारी पायी गयी है। आखिर ये औषधियां आहार का ही युक्तियुक्त रूप हैं और कम मात्रा में लेने पर भी वही प्रभाव दिखायेंगी। नागर मोथा, नीम की छाल, गुलवेल, जेष्ठमध, सगरगोटा, किरायत और इंद्रजव में से प्रत्येक की 10 ग्राम मात्रा लेकर इन जड़ी-बूटियों को पानी में डालकर फिर सुखाया जाता है। इसके बाद इन औषधियों को उबालकर काढ़ा बनाया जाता है। तिक्त गाढ़े काढ़े के स्वाद को सुधारने के लिए अदरक

या शहद की थोड़ी मात्रा मिलाई जा सकती है।

शिशुओं को प्रायः 'बालकडु' देने की सलाह दी जाती है, यह भी तिक्त स्वाद वाली औषधि है। इसके तिक्त स्वाद का कारण भी वही है। शिशु के आहार में केवल दूध होता है जो विशुद्ध तौर पर कफ होता है। तिक्त औषधि मधुर स्वाद वाले दूध की अधिक मात्रा को झेलने में सहायक होती है। माता को भी प्रसव के बाद की अवधि में तिक्त पदार्थों का सेवन करना चाहिए अन्यथा केवल मीठा दूध देते रहने से तो बच्चा प्रतिभा के मामले में मंद बुद्धि हो जायेगा। खुराक से अधिक मात्रा में खाना ठीक नहीं होता है। यही बात तिक्त खाद्य पदार्थों पर भी लागू होती है जिनका अधिक उपयोग अतिरेक वमन, वजन में कमी और जल्दी थकान का कारण बनता है।

यहां हम इस बात को दोहराना चाहेंगे कि सही निदान के अभाव में स्वयं औषधि लेने का परामर्श नहीं दिया जा सकता और इस अध्याय में उपलब्ध सूचना के आधार पर किसी को भी नीम हकीम बनने की प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। जड़ी-बूटियों का बेशक इस्तेमाल करें किंतु सावधानीपूर्वक; इस बात को ध्यान में रखते हुए कि प्रभावी तत्वों का विवेकपूर्ण ढंग से इस्तेमाल न होने पर नुकसान पहुंचाने की संभावनाएं रहती हैं।

आइये हम तिक्त स्वाद वाली ऐसी कुछ औषधियों से और अधिक परिचित हो जायें जिन्हें आप आवश्यकता पड़ने पर कभी लेना चाहें।

वेखंड : इसका भूमिगत डंठल उपयोगी होता है। यह विषम सतह वाला मोटा डंठल होता है। यह गंधयुक्त नसवार के रंग का होता है। इसका तिक्त स्वाद अत्यंत तिक्त होता है और इसकी अल्प मात्रा से भी वमन हो सकता है। वमन के लिए निर्धारित पंचकर्म पद्धति में 'वमन' कराने के लिए दिए जाने वाले नुस्खे का यह महत्वपूर्ण संघटक है।

यह गैस, कब्ज, खांसी और जुकाम से छुटकारा दिलाता है, बच्चों में कीड़ों की रोकथाम करता है। इसके डंठल का एक रोचक उपयोग यह है कि इसे कपबोर्ड में किताबों के बीच उन्हें कीटों से बचाने के लिए रख दिया जाता है।

यह बुद्धि को बढ़ाता है (इसकी अभी जांच नहीं हुई है, इसे प्रमाणित किए जाने की आवश्यकता है)। पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को इस औषधि से दूर रहना चाहिए।

नागर मोथा : इसकी भी एक विशेष गंध होती है और इसे पहचानना सरल है। यह 'शिकाकाई' चूर्ण अथवा केश तेल का आम संघटक है। इसमें अतिसार विरोधी गुण हैं और यह ज्वर को कम करता है। ग्रीष्म में, नागर मोथा, पित्त

पापड़ा या पर्पट (फ्युमेरिया पर्विफ्लोरा), वाल (एंड्रोपोगन वेटिवेरिया) और चंदन को दरदरा करके महीन कपड़े में बांध दिया जाता है और फिर पेय जल में डुबोया जाता है। इसे उबालना नहीं चाहिए। यह शरीर के ताप को कम करने और कुपित पित्त को शांत करने में सहायक होता है।

इसके अधिक सेवन से वजन घटता है और कब्ज हो जाती है।

अनंतमूल : संस्कृत में 'सारिव' कहलाने वाले इस पौधे को 'काष्ठोपाधि' नाम से भी जाना जाता है। इसके सूखे डंठल जेष्ठमध की लकड़ी से मेल खाते हैं, किंतु पीले रंग के नहीं होते (बल्कि कुछ लाल रंग के होते हैं) और गंध भिन्न प्रकार की होती है। अनंतमूल तीनों दोषों को ही कम करता है। यह खुजली जैसे रक्त और चर्म विकारों में लाभप्रद है।

किरायत : इस वनस्पति का डंठल जिसका आंतरिक भाग चक्रनुमा होता है, काफी के कत्थई रंग जैसा होता है और स्वाद में तिक्त होता है। यह पाचन शक्तियों को सुधारता है। यह बालघुट्टी का अनिवार्य संघटक है। यह कृमि उत्पीड़न को रोकता है, रक्त का शोधन करता है और ज्वर कम करता है। अधिकतर ज्वरांतक आयुर्वेदिक दवाओं में किरायत मिला होता है।

इंद्रजव : यह 'कुटज' का बीज होता है जो जानी-मानी अतिसार विरोधी औषधि है। यह आंत्रशूल और गैस के कारण पेट के फुलाव में उपयोगी है। इस प्रकार यह बालघुट्टी का अपरिहार्य संघटक है। सामान्यतः जब इंद्रजव , 'वावडिंग, किरमनी ओवा के मिश्रण को पानी या दूध में उबालकर सप्ताह या पंद्रह दिन में एक बार शिशुओं को दिया जाता है तो वे पेट फूलने और आंत्रशूल से पीड़ित नहीं होते।

गुलवेल : इस वनस्पति का डंठल काफी औषधीय महत्व का है और अपने नाम 'अमृत' के अनुरूप है। इसका डंठल अंगूठे जितना मोटा होता है और इसका अनुप्रस्थ खंड पहिए की तनियों जैसा होता है। यह तीनों दोषों को सामान्य करता है। हालांकि यह कई बीमारियों में काम आता है, इसकी प्रमुख क्रिया यकृत पर होती है। शरीर में ऊतकों को सशक्त बनाने और रोगों के निवारणार्थ कम से कम हफ्ते में एक बार 'गुलवेल सत्व' (डंठल के सूखे चूर्ण से प्राप्त मांड़ी) का पेवन करने का परामर्श दिया जाता है।

कुटकी : यकृत पर प्रबल क्रिया होने के कारण इस औषधि ने 'जादू की गोली' बनाने में प्रयासशील अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है। इसकी जड़ में औषधीय गुण होते हैं। इसका बाह्य आवरण पतला होता है और अंदर की तरफ काला होता है। 'कुटकी' अग्नि को, प्रेरित करती है, अतः भूख भी

लगाती है। पेट अच्छी तरह साफ होता है और त्वचा स्वस्थ एवं कांतियुक्त हो जाती है। यकृत की क्रिया में तेजी लाने और स्वस्थ अनुभव करने हेतु प्रतिदिन गुड़ के साथ 'कुटकी' चूर्ण दो चुटकी का सेवन किया जा सकता है।

हल्दी : हल्दी से हम सभी परिचित हैं। यह हमारे आहार का एक सामान्य हिस्सा है। लेटिन में 'करकूमा लोंगा' नाम से समझी जाने वाली हल्दी, 'अग्नि' की प्रबल प्रेरक है। यह तैलीय खाद्य पदार्थों के पाचन में सहायता करती है। तिक्त औषधियों के गुणों से युक्त होने के अलावा यह 'जलन' कम करती है और घावों को भरने हेतु प्रेरित करती है। आपकी दादी-नानी ने सूजे हुए टखने पर हल्दी की पुल्टिस लगाई होगी, आखिर क्यों ? इससे चोट जल्दी ठीक होती है और सूजन कम होती है।

कुछ लोगों में हल्दी से अजीर्ण हो सकता है, अतः इसे तेल या घी के साथ सेवन करना चाहिए। वास्तव में हमारे आहार में भी अधिकतर हल्दी तड़के के रूप में उपयोग में आती है।

जायफल : हमारी दवाओं की पिटारी में एक और जानी-पहचानी चीज जायफल है जो अफीम जैसा तत्व होता है। गुड़ के साथ देने पर यह ऐंठन, मरोड़ के साथ होने वाले अतिसार से छुटकारा दिलाती है। इससे नींद आती है। यह बेचैन और व्यग्र बच्चे का 'पाचन' सुधारता है।

आइये अब हम काषाय स्वाद वाली औषधियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर लें।

काषाय औषधियां

हम सभी इस संकल्पना से परिचित हैं कि शहद उत्तम औषधीय सत्व है। इसी प्रकार भोजन के बाद पान (जो तिक्त, काषाय और ऊष्ण होता है) खाने की आदत अच्छी मानी जाती है क्योंकि इसका स्वाद काषाय होता है और अल्प मात्रा में इस्तेमाल करने पर यह स्वास्थ्य बनाए रखने में सहायता करता है। ये काषाय पदार्थ तकलीफ भी पहुंचाते हैं। इनके सेवन की आदत पड़ जाती है और यदि इन्हें आहार से हटा दिया जाए तो शौचक्रिया ठीक से नहीं होती, त्वचा का वर्ण पीला हो जाता है और शक्ल तैल एवं पसीनायुक्त हो जाती है। घाव जल्दी नहीं भरते और व्यक्ति का वजन खाए जाने वाले पदार्थों की तुलना में अधिक बढ़ता है।

दूसरी ओर यदि काषाय पदार्थों का सेवन युक्तिसंगत ढंग से किया जाये तो चेहरे से चिकनाई-युक्त प्रभाव रातों-रात ओझल हो जाता है और पेट पूरी

तरह साफ हो जाता है ! घाव तेजी से भरते हैं, त्वचा में रंगत आ जाती है, वजन घट जाता है और मुंह का स्वाद ठीक हो जाता है।

आप पूछ सकते हैं, ऐसे तुनकमिजाज पदार्थ कौन से हैं ? इनमें अति सामान्य ये हैं—धनिया, तमाल पत्र (सिन्नामोनम जीलेनिकम) पान, कत्था और सुपारी, जिनके परिचय की आवश्यकता नहीं है। इस समूह के और भी विशिष्ट सदस्य हैं, जैसे आंवला, वह पानी जिसमें चावल भीगा रहा हो, जामुन और आम की गुठली, दूर्वा घास, कमल का फूल, अशोक, नागकेशर, मोचरस, लोध्र और अर्जुन की छाल।

हरड़ और बहेड़ा जो कि औषधीय वनस्पति हैं की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। बालघुट्टी में महत्वपूर्ण औषधियों के रूप में इनका योगदान होता है। 'हरड़' को 'मातृहीन बच्चे की माता' कहा जाता है। इसे ऐसा कल्पना-प्रधान और विस्मयकारी नाम इसलिए दिया गया क्योंकि यह शरीर का पोषण करता और उसे शक्ति प्रदान करता है। जब किसी बच्चे को 'हरड़' या 'हरितकी' दी जाती है तो दूध भलीभांति पच जाता है और कब्ज नहीं होती। जिस बच्चे को हरड़ दी जाती है उसे पाखाना बंधा हुआ और नियमित होता है। बड़ी उम्र के लोगों में भी यह लाभकारी है और वृद्धावस्था की परेशानियों का निवारण करने के गुण की वजह से इसका नाम अभय भी है। तेल या असली घी के भोजन को 'हरड़' क्रियाशील बनाती है। एक समझदार गृहिणी घर के प्रत्येक सदस्य को हरड़ का सेवन करवाएगी। इसके इस्तेमाल का अच्छा तरीका यह है कि हरड़ को देसी घी में भूनकर (खुश्की कम करने के लिए) सुपारी की तरह टुकड़े कर लिए जायें और भोजन के बाद सुपारी की तरह इस्तेमाल किया जाये।

हरड़ का प्रतिदिन सेवन स्वास्थ्यवर्धक है। प्राचीन आयुर्वेदिक शिक्षक वाग्भट्टाचार्य ने अधिक प्रभावी बनाने हेतु विभिन्न ऋतुओं के अनुसार अन्य औषधियों के साथ सहगामी औषधि के रूप में हरड़ के सेवन का सुझाव दिया है। उनका कहना है कि हरड़ का चूर्ण वसंत ऋतु में शहद के साथ, ग्रीष्म में गुड़ के साथ, वर्षा ऋतु में सैंधव के साथ, शरद ऋतु में चीनी के साथ और शिशिर में सोंठ के साथ लेना चाहिए।

बहेड़ा, हरड़ का संबंधी ही है और टर्मिनेलिया बेलेरिका के नाम से जाना जाता है। यह बालों की वृद्धि करता है और आंखों में चमक लाता है। इसी वजह से यह बालघुट्टी के अनिवार्य संघटकों में से एक है। यह सूखी खांसी को ठीक करने में अत्यंत असरकारी है। इसका छिलका उतारकर टुकड़े करके इसे टॉफी की तरह चूसना चाहिए।

आंवला : आंवला, च्यवनप्राश और केश तेल का आम संघटक है। यह बहुद्देशीय फल अनेक गुणों से युक्त है। सूखा आंवला बालघुट्टी एवं अन्य घरेलू उपचार का महत्वपूर्ण संघटक है। संस्कृत में इसे धात्रि (अर्थात माता) कहते हैं। यह बहुत ही बढ़िया टॉनिक है। हालांकि आंवला प्रधानतः काषाय स्वाद वाला है, नमकीन को छोड़कर इसमें अन्य स्वाद भी होते हैं। यह रसायन भी है और ऊतकों का पोषण करता है, और तीनों दोषों को प्रशमित करता है। यह आंखों और बालों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

शहद : शहद के गुण अनुश्रुत हैं और विश्व के प्रत्येक भाग में रहने वाले लोगों को ज्ञात हैं। इसका स्वाद काषाय होता है। आयुर्वेद ने शहद के गुणों की प्रशंसा की है और मधुर स्वाद के बावजूद इसे काषाय श्रेणी में रखा है। यह शरीर के 'वसा' तत्वों को घटाने में सहायक होता है, अग्नि को प्रेरित करता है और दृष्टि को तीव्र करता है। घाव भरने और शरीर की अवरुद्ध सरणियों को खोलने में यह अत्यंत प्रभावी सिद्ध होता है।

शहद में ('घी' की भांति) बिना अपने गुणों को कम किए अन्य दवाओं के साथ उत्तम अनुमात में कार्य करने का विशिष्ट गुण है। चर्म रोगों, स्थूलता, मधुमेह का उपचार करने के लिए इसका उपयोग होता है। अधिक प्यास और वमन के कारण खुश्क हुए गले के लिए भी शहद उपयोगी होता है। यह 'कफ दोष' का अच्छा प्रतिकारक है।

आज के मिलावट के युग में, आप असली शहद की पहचान कैसे करेंगे ? असली शहद पानी में डूब जाता है, आग पर रखने से तेल की भांति जलता है, आंख में लगता है और कपड़े पर आसानी से लुढ़कता है।

क्या कोई मसाले वाली औषधि हो सकती है ? तिक्त स्वाद!

इस दिशा में कल्पना उड़ान तो भरती है पर एक सीमा तक। क्या कोई मसाले वाली औषधि भी हो सकती है ? जी हां, इस सिद्धांत के अनुरूप कि आयुर्वेदिक औषधियां आहार का ही एक हिस्सा हैं, आयुर्वेद ने एक तीसरे प्रकार की उष्ण और तिक्त औषधियों का भी उल्लेख किया है। इन औषधियों में, सोंठ वावडिंग, पिप्पली, काली मिर्च, सरसों, ओवा, हींग, लहसुन, लौंग और इलायची शामिल हैं।

तुलसी और नींबू घास का स्वाद तिक्त होता है और इन्हें घर में उगाया जा सकता है। इन सत्वों का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है, भूख बढ़ाना, पाचन-क्रिया ठीक करना और आंतों की क्रियाशीलता में वृद्धि करना ताकि पाखाना बंधा हुआ हो।

इन औषधियों का प्राथमिक प्रभाव, 'कफ दोष' को घटाना है। थोड़ी सर्द और नमी के असर वाली संध्या का स्मरण करें जब घर लौटने पर आपको नींबू घास की सुगंध युक्त एक प्याला गरमागरम चाय का मिलता है। नींबू घास की चाय का तिक्त स्वाद 'कफ दोष' के उन कुप्रभावों को दूर करता है जिन्हें कफ दोष प्रश्रय देता है।

आंत में कफ आमाशय में रहता है। यदि यह कफ एकत्रित हो जाता है तो यह मानो सोल्लास अग्नि को बुझा देता है और इस प्रकार भूख खत्म हो जाती है। उष्ण और तिक्त भोजन (जितना जीभ बर्दाश्त कर सके) द्वारा इस से बचा जा सकता है। ये सत्व कृमिनाशक भी होते हैं। साइनेसाइटिस और सिर दर्द जैसे कफ से जुड़े रोगों के उपचार के लिए सोंठ के चूर्ण और दालचीनी में अवशोषित पुल्टिस का सिर और साइनस पर लेप किया जा सकता है। ये पुल्टिसें कुछ चर्म रोगों में भी लाभप्रद होती हैं।

चूंकि हम छोटे बच्चे को मसाले युक्त चीजें नहीं दे सकते (उसकी जीभ और आमाशय की भीतरी सतह उसे बर्दाश्त नहीं कर पाती है)। सामान्य रूप से, हम तिक्त स्वाद वाली कुछ औषधियां जैसे 'वावडिंग' और 'बलंत शेपा' दूध या पानी में मिलाकर, उबालकर थोड़ी मात्रा में उसे दे सकते हैं।

इन मसाले वाली औषधियों के साथ कुछ कष्टप्रद प्रभाव भी जुड़े रहते हैं जैसे गले का खुश्क होना, प्यास बढ़ना, शरीर में गर्मी बढ़ने से टांगों और पीठ में दर्द होना। खुश्क गले की स्थिति में जो स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है वह है पानी पीना। ऐसा करने से कफ भड़क सकता है और इसके फलस्वरूप नाक बहनी (जुकाम) शुरू हो सकती है।

आइए अब हम इस समूह की कुछ औषधियों के विषय में जान लें।

वावडिंग : यह काली मिर्च जैसी होती है किंतु वैसे तम्बाकू के रंग की होती है। इसके अंदर का बीज भूरे रंग का होता है और इस पर धब्बे होते हैं। इसे संस्कृत में विडंग भी कहते हैं। यह कृमि नाशक है और पाचन तथा त्वचा संबंधी तकलीफों को ठीक करती और त्वचा के वर्ण में सुधार करती है (संभवतः पित्त के कार्य को आदर्श स्थिति में लाकर)। इसके इस्तेमाल की उत्तम विधि यह है कि इसके आधा चम्मच बीज लेकर दो लीटर पानी में उबाल लें। पानी में उबालने पर नागर मोथा, पानी में एक अजीब सी गंध छोड़ देता है किंतु सौभाग्य से वावडिंग के मामले में ऐसा नहीं है।

पिप्पली : पिप्पली एलर्जी विरोधी औषधि के रूप में जानी जाती है। इसे पहचानना सरल है। यह देखने में चूहे की विष्ठा जैसी लगती है, इसीलिए इसे

'लेडी पिप्पली' भी कहते हैं। देखने में जैसी भी लगती हो, इसके बावजूद इसका औषधीय महत्व गजब का है। ऐसा प्रतीत होता है कि सृजनकर्ता ने इसके भयावह रूप के बदले इसे कई औषधीय गुण प्रदान करके अपनी परमकृपा की है।

शितोपलादि चूर्ण के मुख्य संघटक के रूप में 'पिप्पली' 'कफ' को घटाती है (अपने तिक्त स्वाद के अनुरूप) और वात को सामान्य करती है। यह खांसी और जुकाम का उपचार करती है किंतु तिक्त औषधियों की प्रतिनिधी होने के कारण 'अग्नि' को प्रेरित करने वाली और प्रकारांतर से पाचन शक्ति बढ़ाने वाली है। यह यकृत की क्रिया को ठीक करती है और अर्जीण होने से रोकती है। इस प्रकार यह बालघुट्टी की भी एक महत्वपूर्ण संघटक है। तथापि पिप्पली के कई पार्श्व प्रभाव भी हैं, अतः इसका उपयोग सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए।

ओवा अथवा अजवायन

ओवा अत्यंत प्रभावकारी मसाला है और यह आमाशय में गैस की रोकथाम करने की दृष्टि से बहुत ही बढ़िया है। यह वमन, डकार और पेट के फुलाव के उपचार में उपयोगी है। 'वात' वृद्धि के लिए खाना पकाते समय ओवा मिलाया जाता है। इस प्रकार इसे, उस लपसी में समाहित किया जाता है जिसमें भजिया अथवा ऊंधियु (गुजराती खाद्य पदार्थ की किस्में) बनाई जाती हैं। सभी तिक्त पदार्थों की भांति यह भी अम्लता में वृद्धि कर सकती है।

लहसुन

यह सुपारिचित तिक्त स्वाद वाला मसाला है। यह जितना तिक्त है उतना ही गैस बनने से रोकने में और खांसी में लाभप्रद है। मसाले के रूप में लहसुन के उपयोग के अतिरिक्त, जिसका अधिकतर दक्षिणी यूरोपीय लोग उपहास करते हैं, इसके कई औषधीय गुण हैं। इनमें से एक गुण जो सिद्ध हो चुका है, शरीर में कोलेस्ट्रॉल स्तर घटाने संबंधी है।

अदरक

यह मसालेदार जड़ जिसे संस्कृत में 'विश्व' भी कहते है, अजीर्ण (अग्नि के मंद हो जाने के कारण) भूख खत्म होने, अपच, वमन गैस के कारण पेट-फुलाव तथा अम्लता आदि में प्रभावकारी उपचारात्मक उपाय है।

चरक ने अदरक को इसके विशद चिकित्सकीय गुणों के कारण सभी मूलों का 'सम्राट' कहा है। यदि भोजन करने से पूर्व अदरक के छोटे टुकड़े पर नमक

छिड़ककर उसे खाया जाये तो वह खाना पचाने में सहायक होता है। भोजन में लाल मिर्च का उपयोग करने के बजाय अदरक का थोड़ा रस डालने से यह अग्नि को प्रेरित करता है और जीभ को प्रमुदित रखता है।

यदि अदरक को संसाधित करके सोंठ में परिवर्तित कर लिया जाये तो और भी बेहतर है। यह सोंठ खांसी, जुकाम और ज्वर के लिए प्रभावकारी उपचार हैं; यह आंव को पचाने की भी आम विधि है।

तिक्त स्वाद वाली अन्य औषधियों में तुलसी (वासिल पत्ती) और नींबू घास शामिल हैं। दोनों में ही बहुत अधिक औषधीय गुण हैं। तुलसी, नींबू घास और काली मिर्च का काढ़ा सर्दी के मौसम में बीमारियों की रोकथाम के लिए बहुत ही प्रभावकारी है। तुलसी का घरों में पूजास्थल में अपना विशेष स्थान है। तथापि 'तुलसी' पर किए गये अनुसंधान से पता चला है कि यह तनाव प्रतिकारक है। यह बच्चों में श्वसन प्रणाली के संक्रमण में भी लाभदायक है। रोग मुक्त रहने के लिए हर दिन सुबह तुलसी की कम से कम चार पत्तियां खाने की सलाह दी जाती है।

अंत में हम मधुर स्वाद वाली औषधियों की चर्चा कर लें।

मधुर रस

मधुर रस, दालों, फलों, दूध और दुग्ध उत्पादों, अंडों, मछलियों, मांस, कुछ सब्जियों, यहां तक कि तेल में भी बहुतायत में पाया जाता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मधुर रस स्वाद में भी मुधर हो यह आवश्यक नहीं है। इसके बजाय, इसका अर्थ यह है कि जिन तत्वों में मधुर रस होता है, वे शरीर में मुख्यतः 'शर्करा' में परिवर्तित हो जाते हैं। चूंकि रोजमर्रा के आहार में मधुर रस वाले पदार्थ बहुत अधिक होते हैं, अतः दादी-नानी की पोटली में 'जेष्ठमध' और शहद (जो प्राथमिक रूप से काषाय स्वाद वाला होता है) को छोड़कर कोई मीठी औषधि नहीं होती। बतौर सावधानी के, यह समझ लें कि शर्करा वाले मीठे पदार्थ ज्यादा मात्रा में खाने पर हानिप्रद सिद्ध हो सकते हैं !

'कफ दोष' जो अधिकतम मधुर रस के प्रति अभिरुचि रखता है, इसके अति सेवन से भड़क सकता है और जुकाम, खांसी, मितली, वमन, अति तनाव एलर्जी ददोरे, चर्म रोग, स्थूलता, वन्ध्यता,अस्थिगठिया, कृमि संक्रमण और आंत्रशूल जैसे रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः ऐसी स्थिति में, मीठे-खट्टे और मीठे-काषाय स्वाद वाले पदार्थों के सेवन की सलाह दी जाती है लेकिन वही-वही पदार्थ रोज सेवन नहीं किए जाने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं खड़ी

हो सकती हैं। यहां तक कि खाना पकाने के लिए तेलों में भी भिन्नता रखना समझदारी होगी। उदाहरण के लिए, खाना पकाने में मूंगफली, 'करडई' और सूरजमुखी का तेल एक दिन छोड़कर बदल-बदलकर, इस्तेमाल में क्यों नहीं लाया जा सकता ?

त्योहार के दिनों में मिष्ठान्न भी, जो हमारी रसोई पर मानो आक्रमण कर देते हैं, अपने प्रभाव की दृष्टि से भिन्न होते हैं। कुछ मिष्ठान्न सरलता से पचते हैं तो कुछ नहीं पचते। कुछ पदार्थ शीत होते हैं तो कुछ उष्ण कुछ शुष्क होते हैं तो कुछ आर्द्र (वसा की मात्रा बहुत अधिक होती है)। उदाहरण के लिए चीनी और गुड़ ऊष्मा उत्पन्न करता है। चावल और बाजरा दोनों मधुर होते हैं किंतु चावल शीत होता है तो बाजरा उष्ण। मूंग और हरा चना शीत होते हैं किंतु 'कुलिथ' ऊष्मा उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक व्यक्ति जो सामान्य जुकाम से पीड़ित रहता है उसे चीनी, चावल, मूंग का कम मात्रा में सेवन करना चाहिए। कुछ अनाज आसानी से पच जाते हैं जबकि अन्य अनाज असानी से नहीं पचते। पहली किस्म वाले अनाज भूनने के बाद पाचन की दृष्टि से हल्के (लघु) हो जाते हैं। ज्वार और बाजरा से बनी 'भाकरी' आग पर भूनने के बाद चपाती से हलकी (लघु) हो जाती है।

कतिपय औषधियों के इस्तेमाल संबंधी निर्धारित नियमों और औषधियों के प्रभावों को समझने के बाद, आइये हम दादी-नानी की वास्तविक पोटली तैयार करें।

12

क्या आप अस्वस्थ अनुभव कर रहे हैं ?

आयुर्वेद की प्रमुख शक्ति केवल निरोगी काया का गुणगान करने तक सीमित नहीं है बल्कि यह शक्ति उसके रोधात्मक पहलू में भी निहित है। सफल होने के लिए, आयुर्वेद में स्वस्थ जीवन पद्धति का निर्धारण किया गया है और केवल इसी वजह से हम उसे मात्र 'रोगों के अध्ययन' मात्र तक सीमित नहीं कह सकते। वस्तुतः यह अध्ययन है स्वास्थ्य का और स्वास्थ्य के विकास का। विगत अध्यायों में हमने आयुर्वेद द्वारा परिभाषित 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ देखा। आयुर्वेद द्वारा स्वस्थ रहने के लिए बताए गये उपायों से भी हम अवगत हुए।

दुर्भाग्यवश, हम प्रलोभनों की दुनिया में रहते हैं ! चरक और सुश्रुत के समय के संदर्भ में आज हमारी जीवनशैली निराशाजनक रूप से भिन्न प्रकार की है। अब अतीत के लौटने की उम्मीद तो नहीं की जा सकती, पारिस्थितिकी के विनाश एवं पर्यावरणीय प्रदूषण के साथ-साथ तीव्र जीवन प्रवाह के माध्यम से हमारे स्वयं के खिलवाड़ से दोषों की प्रतिक्रिया उग्र हो सकती है और हम रोगों का शिकार हो सकते हैं।

क्या स्वास्थ्य संबंधी ऐसी कुछ शिकायतों को दूर करने के लिए, जो जीवन भर हमारी पीछा करती हैं, हम आयुर्वेद से उनके उपचारार्थ कुछ संकेत ग्रहण कर सकते हैं ? इसके लिए सर्वप्रथम एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य का फिर से उल्लेख कर देना अपेक्षित है। नीचे बताई गयी कोई भी चिकित्सा पद्धति किसी चिकित्सक का स्थान नहीं ले सकती, अतः यदि रोग गंभीर है तो स्वतः निदान और स्वतः उपचार की गुंजाइश नहीं है। संदिग्ध प्रकृति की औषधियों से बच्चों का उपचार करना भी घातक है। अतः यदि किसी चिकित्सक ने परीक्षण कर लिया है और वह आपके निदान से सहमत है, तब आप आगे बढ़ सकते हैं और दादी-नानी की पोटली में खोज कर सकते हैं।

अग्निमांद्य : डिस्पेपसिया

मानसून अन्य बातों के साथ-साथ एक अन्य स्वर शिकायत लेकर आता है—'मेरी तबियत गिर रही है', 'मैं आलस्य अनुभव कर रहा हूं' अथवा 'मेरी कुछ खाने की इच्छा नहीं हो रही है।' बहुत सी माताएं बिना यह महसूस किए कि उनका बच्चा पेट में जलन एवं दर्द से पीड़ित है, उसे जबरन खिलाने के प्रयास में खीझ उठती हैं। लोगों को मुंह का स्वाद महसूस नहीं होता (इस अवस्था का वर्णन करने के लिए कोई वैज्ञानिक शब्द नहीं है) और वे किए गये भोजन को पचा नहीं सकते।

आयुर्वेद ने इस अवस्था को 'अग्निमांद्य' अर्थात् क्षीण अग्नि द्वारा प्रतिबिंबित अवस्था, कहकर सुंदर ढंग से व्याख्या की है। हम पहले देख चुके हैं कि वास्तव में अग्निमांद्य क्या है ? संक्षेप में, यह अति सामान्य दशा इसलिए होती है क्योंकि किया गया भोजन आहारनली में संसाधित नहीं होता और इसलिए शरीर का पोषण भी नहीं कर सकता। आंशिक रूप से पका जो भी खाना खाया जाता है उसका रस में समावेश नहीं होता और इसलिए वह स्वस्थ ऊतकों की रचना में अपना अंशदान नहीं दे सकता। सामान्य रूप से शरीर का संपूर्ण चयापचय अस्त-व्यस्त हो जाता है।

आपाधापी की शहरी जिंदगी अथवा उष्ण नम जलवायु अग्निमांद्य के लिए पहले ही पृष्ठभूमि तैयार कर देती हैं। इसकी एक अन्य आम वजह है मानसिक तनाव। अतः इस बीमारी को सफेदपोशों का 'आमाशय रोग' कहा जा सकता है। अनुचित आहार और कतिपय औषधि उपचार भी अग्निमांद्य की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं।

आयुर्वेद में उपचार की दृष्टि से अग्निमांद्य को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहला प्रकार है, मंदाग्नि। इस अवस्था में सादा खाना पचाना भी मुश्किल होता है और 'अपच' से बेचैनी महसूस होती है। अस्वस्थता और वमन इसके अन्य लक्षण हैं।

मंदाग्नि के लिए महत्वपूर्ण चिकित्सा उपवास अथवा 'लंघन' है। चिकित्सीय उपवास का विवरण 'शत्रु अर्थात् आंव' नामक अध्याय में दिया गया है। सीमित उपवास उस समय तक किया जा सकता है जब तक व्यक्ति पहले किए गये भोजन के प्रति सहज है और उसे विश्वास है कि किया गया भोजन पच गया है। इस बात का अनुमान कि अग्नि नें अपना काम फिर करना शुरू कर दिया है इस बात से लगता है जब आप भूख अनुभव करने लगते हैं। उपवास की

अवधि में व्यक्ति को शीतल की अपेक्षा गुनगुना जल पीना चाहिए और हल्का तथा आसानी से पचने वाला खाना खाना चाहिए।

जिन लोगों को जब-तब ये लक्षण दिखाई देते हैं उन्हें नियमपूर्वक आठ या पंद्रह दिन में एक बार उपवास करना चाहिए। यदि उपवास के बाद भूख लगे भी तो मसालेदार खाद्य पदार्थ अथवा अधिक मात्रा में खाना नहीं खाना चाहिए। एक बहुत ही महत्वपूर्ण नियम यह है : भोजन के तुरंत बाद पानी कभी मत पिएं। अन्य अवसरों पर भी पानी कम मात्रा में पीना चाहिए।

पिटारी में कौन सी औषधियां आपको रखनी चाहिए ? सोंठ का चूर्ण, काली मिर्च, हींग, पिप्पली और स्वाद ठीक रखने के लिए सैंधव। यदि सोंठ या पिप्पली उपलब्ध न हो तो अदरक के रस में काली मिर्च और हींग का मिश्रण काम कर जायेगा। चित्रक अथवा शंख भस्म मिले हुए पहले से निर्मित अग्नि दीपन करने वाले 'समुद्रादिचूर्ण' अथवा 'शंखवटी' का इस्तेमाल किया जा सकता है।

दूसरे प्रकार का अग्निमांद्य है 'तीक्षाग्नि'। इस अग्नि की स्थिति में भूख अच्छी रहती है किंतु किया गया भोजन शरीर में आत्मसात नहीं होता। ऐसी स्थिति में ज्यादा खाना, बिल्कुल सहायक नहीं होता। वस्तुतः ऐसा करने से तो अग्नि और असंतुलित हो जायेगी और साथ ही पाचन प्रक्रिया भी। इस दशा की एक विचित्र विशेषता यह है कि जो कुछ भी खाया जाता है (और पचता है) वह जरूरत से ज्यादा भरी आहारनली से थोड़ा नीचे खिसक गया प्रतीत होता है। वह रक्त अथवा मांसपेशियों में नहीं पहुंचता; व्यक्ति पीला दिखाई देने लगता है। अम्लता और डकार तथा मुंह का बिगड़ा हुआ जायका जैसे लक्षण प्रकट हो सकते हैं। यह दशा प्रायः दुर्बल यकृत के परिणामस्वरूप होती है। ऐसी स्थिति में समुचित जांच पड़ताल होनी चाहिए और स्वउपचार से बचना चाहिए।

तीसरे प्रकार का अग्निमांद्य 'विषमाग्नि' है जिसमें अग्नि सचमुच उग्र हो जाती है। अत्यंत अविश्वसनीय पाचक शक्ति इसके लक्षणों में से एक है। कभी तो खाना अच्छी तरह पच जाता है जबकि अन्य मौकों पर हल्के भोजन की थोड़ी सी मात्रा भी बर्दाश्त नहीं होती। गैस से पेट फूलना तो आम बात है।

अग्नि को सामान्य बनाने के लिए लंघन या उपवास चिकित्सा की सिफारिश की जाती है। उपवास की अवधि में सैंधव युक्त नींबू के रस और हींग (आधा चम्मच नींबू का रस आधे गिलास पानी में साथ में आधा चम्मच सैंधव और एक-चौथाई चम्मच हींग) से अग्नि मानो इतराने लगती है। ऐसी समस्याओं के लिए शंखवटी भी उपयोगी है। भोजन के दौरान ली जाने वाली एक अन्य उपयोगी दवा, एक चम्मच गर्म घी के साथ हिंग्वाष्टक चूर्ण है। यह पाचन में कमाल का

काम करता है। हमेशा की भांति भोजन के दौरान पानी पीने का निषेध है, किंतु खाना खाने के एक घंटे बाद गुनगुना जल पिया जा सकता है।

जिस व्यक्ति की अग्नि तुनक मिजाज हो और उसे अपच भी हो तो उसे बासी ठंडे भोजन, तैलयुक्त खाद्य पदार्थ, शीतल पेय एवं शीतल जल से बचना चाहिए। प्याज, आलू, मीठे आलू, चना तथा दालें जैसे 'मटकी', 'चावली', 'मटर', 'टमाटर, 'बैंगन, 'दही, केला, अचार, पापड़, अन्य तले हुए अथवा गर्म और मसालेदार पदार्थ, मादक पेय और मिष्ठान्न से दूर रहना चाहिए।

अदरक, लहसुन, जीरा, धनिया, हरा धनिया, कड़ी पत्ता, नींबू तथा सब्जियां जैसे मूली, जिमीकंद, सहिजन, चिचिंडा, करेला और लौकी अथवा अनार जैसे फल बेफिक्र होकर खाए जा सकते हैं। 'चपातियां', 'भाखरियां' तथा पुराने चावल भोजन में शामिल किए जाने चाहिए।

अग्निमांद्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपचार रात्रि में उपवास करना अथवा हल्का भोजन करना है। अग्निमांद्य न केवल अपच करता है बल्कि यदि लंबे समय तक उपचार न किया जाये तो गंभीर बीमारियों को भी जन्म दे सकता है। अग्निमांद्य से वृहद्‌आंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और इससे अतिसार अथवा यकृत की खराबी, जैसी गंभीर बीमारियां हो सकती हैं।

ऐसे अवसर आते हैं जब विशेष प्रकार के अधिक स्वादिष्ट भोजन करने पर ये लक्षण प्रकट होते हैं। अन्य सभी उद्देश्यों के लिए अग्नि सामान्य हो सकती है, किंतु ठूंस-ठूंसकर अति भोजन करने पर अग्नि अपमानित महसूस करती है। यदि इससे पूर्व मादक पेय तथा मूंगफली या तले हुए अन्य ऐसे कुछ पदार्थों का सेवन किया गया तो अग्नि विद्रोह कर देती है। वह लंबे समय तक नाराज रहती है। इस दशा के लक्षण और इसका उपचार कुछ अंतर के साथ वही है जो अग्निमांद्य कारणों के लिए है। प्रथमतः अग्निमांद्य में अग्नि जीवन-शैली अथव तनाव जैसे विभिन्न कारणों से दूषित हो जाती है। यह चिरकालिक समस्या है। दूसरी ओर अपच ज्यादा गंभीर समस्या है जो स्वयं हमारे अपने अविवेक के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

यदि अग्नि पर उसकी स्वाभाविक क्षमता से अधिक भार डाला जाए तो इसका परिणाम 'अपच' के रूप में सामने आता है। इस प्रकार भूख न होने पर या आहार चिकित्सा के बाद अति भोजन किया जाता है तो अपच अथवा कब्ज होगी क्योंकि अग्नि अपनी स्वाभाविक अवस्था खो देगी और भोजन का अभ्याघात अग्नि की सामर्थ्य से अधिक होगा।



'अग्नि' तुनकमिजाज महिला है—उसे प्रसन्न रखिए और चिकित्सक को दूर !

इस अवस्था को आप कैसे पहचानेंगे ? कब्ज के प्ररूपी लक्षण हैं—आमाशय का भारी होना, आवाज के साथ गैस पास होना, सामान्य दुर्बलता, मितली और वमन के बाद स्थिति सुधरी हुई अनुभव करना।

इसका उपचार करने का उत्तम उपाय यह है कि चुटकी भर सेंधा नमक और अजवायन का चूर्ण समान अनुपात में अदरक और नींबू के रस के साथ लेना चाहिए। यह अपच का अस्थायी किंतु सरल उपचार है।

किसी विशेष खाद्य पदार्थ को अधिक मात्रा में खाने से 'अपच' हो सकता है। इस अवस्था की पहचान और लक्षण भिन्न होते हैं और उसका उपचार भी विशिष्ट होता है। त्योहारों के अवसर पर क्या हम लोगों ने लड्डू, जलेबियां पूरनपोलिष जैसी मिठाइयां ज्यादा मात्रा में नहीं खाई हैं ? परिणामस्वरूप होने वाला कब्ज कफ दोष के आधिक्य के कारण होता है जो आपको हर समय गैस पास करते रहने की शर्मनाक स्थिति में डाल देता है, आप का पेट भारी रहता है और

आपको नींद लगती है।

अन्य मौकों की भांति इस दशा के लिए भी उपवास अथवा लंघन इसका उपचार है। उपवास दुबारा भूख लगने तक किया जाता है। सोंठ और धनिया उबालकर गुनगुना पानी पीना चाहिए। सही नुस्खा है चार कप पानी (1 लीटर) में दो चम्मच सोंठ और एक चम्मच धनिया चूर्ण डालकर उबालिए। जब आप अस्वस्थ महसूस कर रहे हों तब इसे आजमाइए, अमृत सा स्वाद लगेगा !

इस प्रकार के अपच के लिए एक अन्य घरेलू नुस्खा लहसुन है। पहले सोंठ, पीपल, काली मिर्च, सैंधा नमक और हींग लहसुन के कुछ टुकड़ों के साथ मिलाइए और घी में भून लीजिए। यदि लहसुन अपेक्षाकृत लंबे समय तक इस्तेमाल की जानी है तो इस्तेमाल से पहले उसे 24 घंटे तक दही में अवशोषित कीजिए।

कई बार रेस्तरां में जाने से भी अपच होता है जहां केवल तेलीय और मसालेदार चीजें खाई गयी हैं। तब पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को तो शैतान से निबटना ही पड़ेगा। भुक्तभोगी ऐसे व्यक्ति की हालत की कल्पना कर सकते हैं।

ऐसे व्यक्ति को असाधारण रूप से प्यास लगती है। पानी की कितनी भी मात्रा खुश्क होते गले को तृप्त नहीं कर पाती। खट्टी डकारें आने और फिर अतिसार होने की आशंका रहती है।

उपवास निश्चय ही उत्तम समाधान है। किशमिश युक्त सोंठ और धनिया का काढ़ा इसमें लाभदायक हो सकता है। अम्लता को घटाने वाली अन्य दवाएं रात्रि में सोने से पहले लेनी होती हैं जिनमें शंखवटी शामिल है। शंख में मौजूद कैल्शियम, अम्ल की भांति कार्य करता है। सामान्यतः शंखवटी मात्र सीपी नहीं है अपितु उसमें ऐसे कई गुण हैं जो प्रत्यम्ल की गोली (टेबलेट) की अपेक्षा अधिक लाभप्रद हैं।

तीसरे प्रकार के अपच का कारण वात-दूषित करने वाला भोजन है। व्यक्ति महसूस करता है मानो आमाशय में बहुत सी गैस इकट्ठी हो गयी है। पेट फूला हुआ लगेगा और आमाशय में दर्द तथा सामान्य दुर्बलता महसूस होगी। इस स्थिति में भी उपवास करना और गर्म पानी पीना ही उपचार है। इस मामले में, पानी में नींबू का रस, हींग और सेंधा नमक डाले जाते हैं।

सबसे बढ़िया दवा तो है, दिन में तीन बार घी के साथ तीन चौथाई चम्मच हिंग्वाष्टक चूर्ण का सेवन।

इस प्रकार अपच से बचने का उपाय यही है कि जितना पर्याप्त समझा जाए उतना ही खाएं और आहार संतुलित रखें। अग्नि पर भार न डालें और अपच

की स्थिति में व्यायाम न करें !

मलावरोध *(कब्ज)*

यदि अग्निमांद्य और उससे संबद्ध आंव का बनना सतत जारी रहता है तो समझ लीजिए कि आप मुसीबत में पड़ गये हैं। बैठे रहकर काम करने, अपर्याप्त अथवा अधिक निद्रा, अधिक काम, और लगातार भ्रमण अथवा यात्रा जैसे कारक, मलावरोध को जन्म दे सकते हैं। गलत उपचार लेने, जरूरत से कम या ज्यादा खाने और बार-बार विरेचकों के लेने से मलावरोध उत्पन्न हो सकता है।

मलावरोध विभिन्न रूपों में अपने लक्षण प्रकट कर सकता है : व्यक्ति दिन में एक बार शौच जाता है किंतु उसे महसूस होता है कि पेट पूरी तरह साफ नहीं हुआ। शुरू में मलावरोध प्रदाहक हो सकता है और हो सकता है उतना समस्यात्मक न महसूस हो, किंतु बाद में गैस, पेट दर्द, सिर दर्द, भूख मर जाना, सिर घूमना, शरीर का पीला और निस्तेज दिखाई देना, खिंचाव महसूस होना जैसी शिकायतें पैदा हो जाती हैं। इसके पश्चात, बवासीर, अम्लता, आंत्रशोथ और यकृत की समस्या जैसी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। यह न भूलें कि मलावरोध, आंत्र कैंसर जैसी गंभीर बीमारी का अग्रदूत हो सकता है, अतः चिरकालिक मलावरोध की स्थिति में जांच-पड़ताल अपेक्षित है।

जैसा कि, आहारनली संबंधी अन्य सभी समस्याएं के लिए होता है, उपवास महत्वपूर्ण प्राथमिक उपचार है। किसी भी व्यक्ति को कम से कम महीने में एक बार उपवास अवश्य रखना चाहिए ताकि आहारनली स्वच्छ हो जाये और पाचन भी पूर्ण हो जाये। इससे पाखाना ठीक से होता है और पेट साफ हो जाता है। तेल, घी और दूध के साथ कुछ शाक (हरी पत्तियों वाली सब्जियां) भी आहार में शामिल किए जाने चाहिए।

फिर भी यदि प्रमुख आहार में रोटी, उबली सब्जियां, सलाद और शुष्क खाद्य पदार्थ हैं तो आहार में घी की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। सुनने में यह बात विरोधाभासी भले ही प्रतीत हो, सीमित मात्रा में घी का उपयोग क्षतिकारक कॉलेस्ट्रॉल की वृद्धि नहीं करता। बल्कि आयुर्वेद ने तो, रक्त कोशिकाओं के स्नेहन जो कि वय ढलने में विलम्ब करता है सहित घी के अनेक लाभप्रद प्रभाव बताए हैं !

सोने से पूर्व दूध में एक चम्मच घी डालकर पीने की आदत को जारी रखना चाहिए अथवा सोने से पूर्व ही गर्म पानी में एक चम्मच घी डालकर पीना भी उत्तम है। मलावरोध के उपचारार्थ उपलब्ध औषधियों में आम दवाएं, घी के साथ लिया जाने वाला त्रिफला चूर्ण अथवा गंधर्व हरितकी हैं। अन्यथा, आंत्रास्तर शुष्क

हो जायेगा जिससे कब्ज होगा और बदले में अनेक समस्याएं पैदा हो जायेंगी। संयोगवश, आयुर्वेद द्वारा उपचार के व्यक्तिपरक होने पर जोर देने के कारण भिन्न-भिन्न लोगों के लिए ये औषधियां भिन्न-भिन्न होती हैं।

आयुर्वेद में विरेचक प्रभाव वाली अनेक औषधीय जड़ी-बूटियों का उल्लेख मिलता है। जड़ी-बूटी का चयन व्यक्ति की शारीरिक संरचना और बीमारी पर निर्भर करेगा। अतः यह स्वाभाविक है कि मलावरोध का कारण ज्ञात करना पड़ेगा। आइये, हम मलावरोध के उपचार में प्रयुक्त होने वाले (औषधीय) पौधों का परिचय प्राप्त करें।

बहव (कैसिआ फैस्टुला)

यह जाना माना वृक्ष है जिसके नाम पर निचली मुंबई के एक भाग का नाम बाइकुला है। इसके फूलों का पीला चंदोवा उत्तम होता है। फूल की फली में पाए जाने वाले बीज विरेचक का कार्य करते हैं। जिस प्रकार फूल नेत्रों को सुख देते हैं वैसे ही फलियां अम्लता को बेअसर करती हैं। इस प्रकार यह आमाशय (पित्त प्रकार) की जलन युक्त पीड़ा से संबद्ध मलावरोध के उपचार में उपयोगी है। यदि 20 ग्राम मगज एक कप गुनगुने पानी में अवशोषित किया जाये तो भूरे रंग (बर्गंडी वाइन का रंग) का हल्का संगुधित पेय तैयार हो जायेगा। जब ज्वर के दौरान अथवा अन्य दवाओं के प्रभाव से मलावरोध हो तब इसे पीना चाहिए। यह औषधि-मिश्रण गर्भवती महिलाओं, बच्चों और बड़ी उम्र के लोगों के मलावरोध उपचार के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

कपिला *(मेलोटसफिलिपिनेंसिस)*

यह औषधीय वनस्पति कीड़ों के प्रभाव से संबद्ध मलावरोध के उपचार के लिए उत्तम है क्योंकि पहले यह कीड़ों को मारती है और फिर अपने विरेचकीय प्रभाव से उन्हें बाहर निकालकर मुक्ति दिलाती है। यह कफ किस्म के मलावरोध में भी उपयोगी है अर्थात् उन रोगियों के लिए जिन्हें सख्त और चिकटा हुआ पाखाना होता है। कपिला से बना चूर्ण विशेष रूप से लाभप्रद होता है। कभी-कभी कीड़ों के संक्रमण से त्वचा में खुजली होती है। ऐसे मौकों पर रात्रि में कपिला चूर्ण लेना उपयोगी रहता है।

हरड़ *(टर्मिनेलिआ चेबुला)*

तीसरे प्रकार का मलावरोध वात प्रकार का होता है। इसमें हरड़ सबसे बढ़िया

औषधि है। अधिकतर विरेचक औषधियों में इसका समावेश रहता है, जैसे त्रिफला चूर्ण, गंधर्व हरितकी, सुखसारकचूर्ण अथवा स्वादिष्ट विरेचन।

इस नुस्खे से घर में विरेचक औषधि बनाकर देखें—अरंडी के तेल में बाल हरड़ को तलें। यह फूलकर अपने मूल आकार से चार गुना बड़ी और भुरभुरी हो जायेगी। इसे पीसकर चूर्ण कर लें और स्वाद के लिए इसमें सेंधा नमक मिला लें। यदाकदा होने वाले मलावरोध के लिए अच्छी प्रभावपूर्ण चिकित्सा के लिए आधा चम्मच चूर्ण गर्म पानी के साथ लें।

अतिसार *(डायरिया)*

एक बार किसी ने मजाक में कहा था कि भारतीयों की आहारनली में बसे हुए रोगाणु अधिकतर काक्कस जीवाणुओं और सर्वाधिक विषाक्त विषाणुओं को भी मात दे देंगे। मजाक को छोड़ें, लगभग हम सभी अपने पेट में अनेक प्रकार के रोगाणुओं को शरण दिए हुए हैं। ये रोगाणु मामूली उत्तेजना से सिर उठा लेते हैं और अतिसार की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। यह संकट बारिश के मौसम में उत्पन्न होता है और सबसे पहले इसके शिकार बच्चे होते हैं। आधुनिक चिकित्सा का मत है कि अतिसार अनेक कारणों से हो सकता है, संक्रमण तो इन कारणों में से एक है। अतिसार का अन्य प्रमुख कारण अनुपयुक्त खाद्य पदार्थों अथवा औषधियों के कारण आंत्र की आंतरिक पर्त में शोथ होना है। आयुर्वेद ने भी ऐसे ही कारण बताए हैं। आयुर्वेद के अनुसार अतिसार का प्रमुख कारण अग्निमांद्य है जिसकी वजह से खाना पूरी तरह नहीं पचता जिससे आहारनली में प्रदाह उत्पन्न होता है और दुष्क्रिया होती है। इस प्रकार, अग्निमांद्य से अतिसार रोग होता है जिससे ऊतक और अग्नि दोनों क्षीण होते हैं। दाल और गुड़ अथवा पकौड़े आदि जैसी चीजें अधिक मात्रा में खाने से अथवा मादक पेय का अधिक सेवन करने से अग्नि उत्तेजित हो सकती है जिसका असर बहुत हानिकारक होता है।

इस प्रकार अतिसार की प्रारंभिक अवस्थाओं में उल्लिखित कारणों को ध्यान में रखकर घरेलू नुस्खों को आजमाया जा सकता है।

प्रायः जब भी किसी रोगी को अतिसार होता है तो हम अतिसार विरोधी चिकित्सा करते हैं। यह प्रभावी ढंग से अतिसार को तो रोक देती है किंतु साथ ही यह आहारनली से 'जीव विष' को भी जो अतिसार को जन्म देता है, बाहर निकलने से रोक देती है। यह घातक सिद्ध होता है। अतः ऐसा करने के बजाय हो चुकी क्षति को पूर्ति के लिए रोगी को तरल पदार्थ दिए जाने चाहिए ताकि शरीर जीव विष को बाहर निकालकर सामान्य स्थिति में आ सके (हां, जब तक

अतिसार बहुत ही गंभीर किस्म का न हो विशेष रूप से शिशुओं में अथवा वृद्ध लोगों में)। आयुर्वेद के सिद्धांत इसी से मिलते-जुलते हैं। अतिसार को रोकने के लिए चिकित्सा तभी की जानी चाहिए जब बदबूदार चिकटा हुआ मलीय पदार्थ बाहर निकले।

जायफल अतिसार के उपचार का घरेलू नाम है। यह आंत्र गड़बड़ी कम करता है और आंत्र शूल को मुक्त करके अतिसार को नियंत्रित करता है। जायफल चूर्ण की घी और गुड़ में मिलाई हुई थोड़ी सी मात्रा इस समस्या का बढ़िया इलाज है। यदि इसमें सोंठ भी मिला दी जाये तो क्लांत अग्नि सक्रिय हो जाती है और बिगड़ैल जीव विष को भी काबू करती है।

अग्नि को विश्राम देते हुए मुक्त छोड़ देना भी जीव विष को काबू करने का एक उपाय है। अतः उपवास अथवा लंघन अनुकूल चिकित्सा पद्धति सिद्ध होती है। मामूली अतिसार तो उपवास से ही ठीक हो सकता है। शरीर में पानी की क्षति को औषधियुक्त जल पीकर पूरा किया जा सकता है। इस जल में उबालते समय सोंठ डाल दी जाती है।

अतिसार में उपयोगी सिद्ध होने वाली औषधियां है, 'अतिविष' (एकोनिटम हैटरोफीलम) तथा 'कुटज' (हॉलोरिना एंटीडीसैनटरिका)। इन चीजों से बना एक चौथाई चम्मच चूर्ण, दिन में तीन बार शहद के साथ लेना चाहिए।

यदि व्यक्ति को भूख लगती है तो उसे हल्के खाद्य पदार्थ खाने चाहिए जैसे रात भर पानी में भिगोई हुई किशमिश। एक चुटकी जीरा, ओवा, सेंधा नमक, पिप्पली अथवा सोंठ (जो भी उपलब्ध हो) अग्नि को दीप्त करने में सहायक होती है।

अनार, अतिसार को ठीक करने के लिए लाभप्रद समझा जाता है। अनार का जूस उपचारात्मक समझा जाता है। यह पाचन क्षमता में वृद्धि करता है और अतिसार एवं मलावरोध दोनों में ही उपयोगी है। अनार का छिलका अतिसार में विशेष रूप से उपयोगी होता है।

अब हम उस संधि शूल (जोड़ों के दर्द) के आम लक्षणों के विषय में चर्चा करेंगे—ऐसा संधि शूल जिससे साठ वर्ष से अधिक उम्र के लोग प्रायः परेशान रहते हैं।

संधि शूल

यदि आप भाग्यशाली नहीं हैं या फिर समझदारी के साथ नियमित व्यायाम नहीं करते रहे हैं तो संधि शूल आपका साथ नहीं छोड़ेगा और आपको कष्ट देगा।

गहन जांच पड़ताल के बाद अथवा आमाशय श्लेष्मा को क्षतिग्रस्त करने वाले औषधि उपचार के बाद भी आप के जोड़ों में चरमराहट रहेगी और आप कष्ट पायेंगे। यह पूछना एकदम स्वाभाविक है क्या दादी-नानी की पोटली में इस दुराग्रही और दुखद रोग के लिए कोई औषधि है जिसे आधुनिक चिकित्सा ने गठिया (संधि शोथ) नाम दिया है और जो जोड़ों की सूजन के कारण होता है।

आयुर्वेद के अनुसार, संधि शूल का प्रमुख कारण सर्वव्यापी 'आंव' है। यह हम पहले देख चुके हैं कि आंव कैसे बनती है और हम इसके बनने के मूल कारण अर्थात् अग्निमांद्य से भी परिचित हैं। यदि 'अग्नि' अधिकतम कार्य करती है तो 'सार' निर्मित होता है जो शरीर में आत्मसात हो जाता है दूसरी ओर अग्निमांद्य में आंव बनती है जो शरीर में अवशोषित हो जाती हैं। यदि आनुवंशिक प्रकृति के कारण, आंव संधियों में संग्रहीत हो जाती है तो इसके परिणामस्वरूप 'गठिया' रोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार गठिया के जल्दी उपचार में अग्नि में सुधार और आंव की रोकथाम शामिल है। यदि आंव पुरानी हो गयी है तो उसे या तो औषधियों से पचाने अथवा 'पंचकर्म' द्वारा शरीर से बाहर निकालने की सलाह दी जाती है।

संधि शूल के प्रथम लक्षण प्रकट होते ही पाचन प्रणाली पर ध्यान देने की जरूरत होती है। अग्नि पर अधिक भार न डालिए, ऐसी वस्तुओं का सेवन न कीजिए जो उसकी शक्ति क्षीण करें अथवा पाचन को हानि पहुंचाएं। भोजन के बाद आधा चम्मच सोंठ का सेवन कीजिए। हमेशा सोंठ पिप्पली, चवक और चित्रक युक्त गुनगुना पानी पीजिए। यदि आप छाछ पीते हैं तो उसमें सोंठ डालिए किंतु अधिक सोंठ के सेवन से बचिए। मलावरोध न होने दीजिए। संक्षेप में, संतुलित और सुगमता से पचने वाला, सोंठ जैसे सही अग्निवर्धकों से युक्त भोजन, मल निष्कासित करके आंत को स्वच्छ बनाता है।

यदि कोई व्यक्ति मोटा है तो उसके लिए वजन घटाना आवश्यक है। यह स्मरण रहे कि शरीर का भार जोड़ों को सहना पड़ता है। आप उन पर जितना दवाब डालेंगे जोड़ों का उतना ही क्षरण होगा। आहारन (डायटिंग) पर अनावश्यक व्यय मत कीजिए और न दर्द को दबाने हेतु एस्पिरिन अथवा ब्रूफेन जैसे वेदना-हरों का इस्तेमाल कीजिए क्योंकि वेदना-हर रोग-प्रक्रिया को परिशोधित किए बिना थोड़ी-सी देर के लिए आराम देते हैं।

गठिया में एक समस्या विकृत वायुदोष की होती है। उसे संतुलित अवस्था में लाने के लिए शूल युक्त संधियों पर महानारायण तेल की मालिश के साथ-साथ गर्म पानी अथवा भाप का सेंक करना चाहिए। अरंडी के तेल में निर्गुडी (निरगुंडी)

की पत्तियां बांधने से प्रभावित जोड़ों के दर्द में आराम मिलता है।

यदि जोड़ों का दर्द बढ़ा हुआ है तो वायु को विकृत करने वाली ठंडी और खट्टी चीजें नहीं खानी चाहिए। उदाहरण के लिए, दही, मछली, टमाटर, आम, केला, फूले हुए चावल (मुरमुरे), आइसक्रीम अथवा शीतल पेय का निषेध है। इनके बजाय अदरक, लहसुन, धनिया, जीरा और सोंठ को आहार में शामिल किया जाना चाहिए। भुना हुआ पुराना चावल भी अच्छा रहता है। करेला, परवल जैसी सब्जियां खाने की भी सलाह दी जाती है। रोटी के लिए आटा गूंधते समय उसमें मूंगफली के तेल की अपेक्षा एक चम्मच अरंडी का तेल इस्तेमाल करना बेहतर है। एक चम्मच अरंडी का तेल (जो कि विरेचन की दृष्टि से एक खुराक जितना भी नहीं है) सोंठ के एक कप काढ़े में यदाकदा लिया जा सकता है। वातानुकूलित कक्षों जैसे ठंडे स्थानों में बैठने या फिरने से बचना चाहिए।

ये उपाय वेदना-हर औषधियों की भांति जोड़ों के दर्द को तुरंत ठीक नहीं करते तथापि रोग को जड़ से काबू करते हैं। यह महसूस करना जरूरी है कि आयुर्वेद जोड़ों की क्षति को रोकने पर जोर देता है। एक बार जोड़ अकड़ जाएं तो उस स्थिति में तो आयुर्वेद भी उपचार करने में अपनी असमर्थता जाहिर करता है। अतः जहां तक गठिया का प्रश्न है, रोकथाम निश्चित रूप से बेहतर है।

मुख-व्रण

यह ऐसी काफी सामान्य शिकायत है जो जीवन को दयनीय बना देती है क्योंकि पीड़ित व्यक्ति न तो खा सकता है और न बोल सकता है। मुखविवर में ओंठ, मसूड़े, गालों की भीतरी सतह, जिव्हा और तालु में लालिमा हो जाती है। मुंह में जलन होती है और तीखे खाद्य पदार्थ असह्य होते हैं। कभी-कभी ऐसा व्रण भी हो जाता है जो (बीच में) पीला-सफेद होता है और उसके चारों ओर लाल-लाल धारियां सी होती हैं।

इस बीमारी का उपचार सरल है। घरेलू उपचार में एक गिलास पानी में 500 ग्राम खदिर चूर्ण (कत्था) मिलाकर गरारे किए जाते हैं। त्रिफला चूर्ण का काढ़ा भी लाभदायक होगा। एक अन्य उपाय है कि शंखजीरा अथवा घी में सुवर्णगैरिक की लेई (पेस्ट) बनाकर लगाएं। (एक बात जो मालूम होनी चाहिए वह यह है कि मुख-व्रण किसी दैहिक रोग के चिह्न होते हैं, अतः लक्षणों के अनुसार उनका उपचार नहीं किया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में महत्वपूर्ण यह है कि मूल कारण का पता लगाया जाए और उसका उपचार किया जाए।)

सामान्यतः मुख-व्रण के साथ क्षुधा अभाव एवं मलावरोध भी उत्पन्न होते

हैं। एक ग्राम त्रिफला चूर्ण अथवा अरंडी का तेल मलावरोध से मुक्ति दिलाता है। यदि यह बेअसर साबित हो तो फिर अग्निमांद्य के लिए बताए गए उपाय आजमाए जा सकते हैं। यदि व्रणों की पुनरावृत्ति होती है तो विकृत दोष का पता लगाकर उसका उपचार किया जाना चाहिए।

यदि 'वात दोष' गड़बड़ हो गया है तो मुंह और ओंठ खुश्क हो जाते हैं और जीभ फट जाती है तथा मुख विवर में व्रण हो जाते हैं (जब तक एक छाला ठीक होता है, परेशान करने के लिए दूसरा उपस्थित हो जाता है); व्यक्ति ठंडा पानी बर्दाश्त नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में रोगी घी, मलाई या दूध में पिप्पली, इलायची, सेंधा नमक मिलाकर उसकी लेई (पेस्ट) तैयार करके उसे लगा सकता है। कभी-कभी तो तिल के तेल का उपयोग करते हुए गरारे करने से तुरंत आराम मिल जाता है।

'पित्त दोष' गड़बड़ होने पर मुंह में जलन होना और प्रातः काल के समय मुंह कड़ुवा रहना इसके मुख्य लक्षण हैं। इसमें त्रिफला काढ़े के गरारे करना प्रभावी सिद्ध होता है। इसमें 'जय' की पत्तियां चबाने अथवा प्रभावित जगह पर घी में सुवर्णगैरिक मिलाकर लगाने से आराम मिलता है।

दूसरी ओर यदि प्रातःकाल मुंह में गाढ़ी लार भरती है अथवा व्रण श्लेष्मा स्राव से ढक जाते हैं तो यह 'कफ दोष' की अपसामान्यता को इंगित करता है। इस स्थिति में शहद युक्त त्रिफला के काढ़े के गरारे उपयोगी होते हैं। यदि मुंह में इस समस्या की पुनरावृत्ति होती है तो हल्का आहार करना चाहिए। खट्टे, नमकीन (अचार, पापड़) और अन्य तीक्ष्ण स्वाद वाले खाद्य पदार्थों से बचना चाहिए। इसके अलावा दही, दूध, चाय, गुड़ अथवा उड़द की दाल का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

भीड़भाड़ वाले प्रदूषित महानगरों में रहने वाले अधिकतर लोगों की चिंता के कारण, जुकाम और खांसी हैं। इन अति सामान्य दशाओं के विषय में आयुर्वेद क्या कहता है ?

सामान्य जुकाम

चिकित्सकों की क्षमता के विषय में प्रायः दोहराई जाने वाली कहानी का संबंध सामान्य जुकाम से है। चिकित्सकों के विषय में अपमानजनक रूप से यह कहा जाता है कि जुकाम को अकेला छोड़ दो तो वह सात दिन में ठीक हो जायेगा और यदि आप चिकित्सक के पास जाते हैं तो आपको उससे एक सप्ताह में छुटकारा दिला देगा !

जो व्यक्ति आम जुकाम से परेशान है, या उसे बार-बार जुकाम तंग करता है तो जुकाम से छुटकारा पाने के लिए वह कुछ भी करना चाहेगा, जिसमें आंखें लाल हो जाती हों और उनसे पानी बहता हो, नाक कभी बंद हो जाती हो तो कभी इस तरह से बहने लगती हो जैसे शरीर के अंदर कोई पानी का नलका ढीला छूट गया हो। प्रसव-पीड़ा से ज्यादा कष्टदायी शिरोवेदना, हिमालय क्षेत्र में लंबी यात्रा के बाद होने वाली थकान से अधिक हरारत और रुग्णता ऐसे कुछ अन्य लक्षण हैं जिनसे सर्दी जुकाम का रोगी पीड़ित होता है। यह बीमारी जितनी सामान्य है अनादिकाल से उतनी ही लाइलाज भी और विश्व भर के चिकित्सकों ने चाहे जुकाम हो अथवा कैंसर दोनों के उपचार खोजने की जी-जान से कोशिशें की हैं।

आयुर्वेद में आपकी सहायता के लिए काफी अच्छे उपचार मौजूद हैं जो बीमार होने पर आपके काम आते हैं। कदाचित इन उपचारों के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार के लिए उपयुक्त न माना जाए किंतु ये असहाय भुक्तभोगी को आराम पहुंचाने की दृष्टि से सर्वकालिक हैं। आयुर्वेद की व्याख्या के अनुसार सामान्य जुकाम के मुख्य कारण हैं अनायास मौसम परिवर्तन, शीतल पेयों का निरंतर सेवन तथा धुआं और धूल के कण।

यदि जुकाम गंभीर है और साथ में सिर दर्द और गले में दर्द है तथा छींकों के दौरे के साथ नाक बह रही है तो साइनसों पर सोंठ का लेप सहायक होता है। कपड़े की पोटली गर्म करके नाक और माथे पर रखनी चाहिए। एक-चौथाई चम्मच सोंठ, जीरा, तुलसी की पत्तियां काली मिर्च के चार दाने और नींबू घास की कुछ पत्तियों के काढ़े में, स्वाद की खातिर मामूली सा गुड़ डालकर पीना लाभदायक होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि काढ़ा हमेशा गर्म-गर्म ही पीना चाहिए।

सामान्यतः पके-भोजन में 'सोंठ' के अतिरिक्त काली मिर्च, पिप्पली अथवा सेंधा नमक डालने से जुकाम के ये लक्षण तुरंत छूमंतर हो जायेंगे। वस्तुतः तीक्ष्ण एवं मसालों के स्वाद वाली कोई भी चीज चाहे वह औषधि हो अथवा भोजन, जुकाम के कफ को ढीला कर देगी और रोगी काफी बेहतर महसूस करने लगेगा।

काढ़े की जगह 'आम जुकाम की गोली' बनाकर हर बार भोजन से पहले गर्म पानी से ली जा सकती है। सोंठ, काली मिर्च और पिप्पली को समान अनुपात में गुड़ में मिलाकर गोलियां बना ली जाती हैं। अत्यधिक प्रतिस्पर्धात्मक बाजार के मुकाबले में व्यक्ति की पसंद के अनुसार अदरक और गुड़ या नींबू के रस और गुड़ की गोलियां भी बनाई जा सकती हैं। इन औषधियों के उपयोग से नाक

से होने वाला स्राव पीला और अधिक लसीला हो जायेगा और गला साफ हो जायेगा।

यदि साथ में तेज खांसी भी है तो एक चम्मच अदरक या तुलसी का रस एक चम्मच शहद 'नागगुटी' के साथ दिन में दो बार लेने की सलाह दी जाती है। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा से ली जाने वाली आयुर्वेदिक औषधि 'त्रिभुवन-कृति' है। यह तेज दवा एस्पिरिन की तरह काम करती है और तुरंत आराम पहुंचाती है (जो कि अस्थायी होता है) किंतु आमाशय की झिल्ली (अस्तर) का क्षरण कर सकती है। *एंटिहिस्टेमाइंस* औषधियां भी केवल लक्षणों का उपचार करती हैं और ये दोनों ही औषधियां कारण का निवारण न करके केवल लक्षणों को घटाएंगी।

चरम सीमा पर हुए नजले या जुकाम के बाद आहार में गेहूं, बाजरा, चावल, कुलिथ, मूली और लहसुन की पर्याप्त मात्रा में पकाए गये मांस का सेवन करना चाहिए। तरबूज, कद्दू, शरीफा, आइसक्रीम और शीतल पेय के इस्तेमाल से बचना चाहिए।

खांसी

पुरानी खांसी न केवल रोगी को क्षुब्ध करती है, बल्कि घर के सभी लोगों को परेशान कर देती है। खांसी से परेशान व्यक्ति न केवल खाने और सोने में असमर्थ होता है, बल्कि उसके लिए कुछ वाक्य तक सीधे बोलना मुश्किल हो जाता है। वह चाहता है कि एकदम पस्त करके थका देने वाली खांसी को कम करने की कोई जादुई खुराक मिल जाए तो अच्छा हो।

सबसे पहले यह समझ लेना महत्वपूर्ण है कि खांसी लक्षण है और इस उत्तेजक स्थिति के कारण का शुरू में ही पता लगा लेना चाहिए। अहानिकर ग्रसनीशोथ और इओसिनोफीलिया से लेकर अधिक खतरनाक श्वसनी दमा और क्षय रोग तक खांसी का कारण हो सकते हैं। खांसी, फेफड़े के कैंसर और हद्पात का प्रथम लक्षण भी हो सकती है और कभी-कभी इसके विपरीत उच्च रक्तचाप के लिए ली गयी औषधियों का परोक्ष प्रभाव भी हो सकती है ! इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना तर्कसंगत लगता है कि दस दिन से अधिक चलने वाली खांसी के लिए किसी चिकित्सक से जांच करवाना आवश्यक है। बाजार में खांसी के उपचार की अनेक दवाइयां उपलब्ध हैं। ये असरकारी तो होती हैं, किंतु नींद आना और श्लेष्मा का खुश्क होना इन दवाओं के परोक्ष प्रभाव होते हैं। ये व्यक्ति की चेतना और बोध को इतना प्रमादयुक्त कर देती हैं कि वह यह महसूस करने लगता है कि इससे तो खांसी ही ठीक थी !

खांसी के प्रति आयुर्वेद का दृष्टिकोण अत्यंत रोचक है। उसका कहना है कि खांसी, काकाल की सूजन, कान में जमा हुए मैल, मलावरोध अथवा कृमि-उत्पीड़न का प्रतिफलन हो सकती है। ग्रंथि कृमि (राउंडवॉर्म) इओसिनोफीलिया को जन्म देते हैं जो आगे चलकर स्वयं खांसी के रूप में सामने आता है।

अपने दर्शन के अनुसार आयुर्वेद ने, खांसी को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है। वात असंतुलन से उत्पन्न खांसी रात में बढ़ती है, लगातार चलती है, प्रायः खुश्क होती है, इसमें छाती में दर्द भी हो सकता है। छाती पर तेल की मालिश करके सिकाई करने से आराम मिलता है। खांसी का दौरा उठने पर शहद के साथ 'जेष्ठमध' या 'तालीसादि चूर्ण' रोगी को चटा सकते हैं।

पित्त के असंतुलन से उत्पन्न खांसी यदि बनी रहती है तो पीला कफ आता है। मुंह का स्वाद कडुवा रहता है और खट्टी डकारें आती हैं।

शहद के साथ मिलकर 'अडुल्सा' की पत्तियों का रस संभवतः इसके लिए उत्तम उपचार है। बाजार में मिलने वाली 'वसा' अथवा 'वासक' नाम की तैयार दवाओं में 'अडुल्सा' शामिल रहता है। एक चम्मच शहद, एक चम्मच घी और एक चम्मच 'सितोपलादि चूर्ण' से बना अवलेह, भयंकर खांसी में चाटने से काफी आराम देता है।

कफ के असंतुलन से उत्पन्न खांसी में, सिर दर्द के साथ छाती में भारीपन रहता है। श्लेषित बलगम बहुत अधिक मात्रा में बनता है। लार काफी गाढ़ी हो जाती है और श्लेषित बलगम निकालने में कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में, भुना हुआ बहेड़ा (टर्मिनेलिया बेलैरिका) चबाना अथवा शहद में पिप्पली और सोंठ की समान मात्रा मिलाकर उसका अवलेह आदर्श उपचार है। इसी प्रकार, सुहागा (टंकन) भूनकर और पीसकर एक-चौथाई चम्मच शहद के साथ भी दिया जाता है।

त्वचा और बालों की देखभाल

धातुओं वाले अध्याय में हमने देखा कि त्वचा 'रक्तधातु' की 'उपधातु' है और इस नाते 'रक्तधातु' और 'रसधातु' (जो महत्व क्रम में ऊपर है) की गुणवता को प्रतिबिंबित करने वाला दर्पण है। इसीलिए आमतौर पर कहा जाता है कि आभायुक्त त्वचा उत्तम रस और अच्छे रक्त का परिणाम होती है। विरंजन और चेहरे की मालिश अथवा कृत्रिम सौंदर्य प्रसाधनों का उपयोग अथवा सौंदर्य विशेषज्ञ की दक्षता, कुछ भी चेहरे के फीकेपन को नहीं छिपा सकता यदि त्वचा अस्वस्थ है। इसके विपरीत, स्वस्थ त्वचा बिना प्रसाधन के भी आकर्षक दिखाई देगी।

अब तक, आपने अच्छे आहार के महत्व को समझ लिया होगा क्योंकि उत्तम आहार से ही अच्छी किस्म का 'रस' बनता है जो 'रक्त' का पोषण करता है और प्रकारांतर से त्वचा पर प्रभाव डालता है।

आयुर्वेद ने यह भी कहा है कि त्वचा रोग मूलतः यकृत के धीमी गति से कार्य करने के कारण पैदा होते हैं और यकृत की यह धीमी गति ही 'पित्त' और 'कफ दोष' की दुष्क्रिया का कारण बनती है। स्वस्थ रंग रूप में अपना योगदान देने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण कारक है, साफ आंत। अतः नियमित और पूरी तरह पेट का साफ होना जरूरी है ! इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए कब्ज से पीड़ित व्यक्ति के लिए हल्के विरेचक (त्रिफला जैसे) और हल्का आहार लेने की सलाह दी जाती है। यदि किसी के चेहरे पर चिकनाई बनी रहती है तो उसे दूध के सेवन से बचना चाहिए (हालांकि दूध पूर्ण आहार माना जाता है)। दूसरी ओर आहार में सहजन इसका अच्छा पूरक माना जाता है तथापि यह पित्त में वृद्धि करता है और गर्मी की फुंसियां होने की स्थिति में नहीं खाना चाहिए।

कई लोगों की त्वचा, गर्मी की अलाइयां, फुंसियां निकलते ही मानो गर्मी की ऋतु आने की सूचना देती है। प्रभावित त्वचा पर 'त्रिफला', नीम की छाल अथवा जेष्ठमध का लेप और इसके साथ काले अंगूर, खजूर और त्रिफला के काढ़े का सेवन किया जा सकता है। आहार में ऐसे तत्व शामिल किए जाने चाहिए जो पित्त को घटाते हैं। मसाले, अचार, पापड़ आदि तथा मांसाहार का सेवन नहीं करना चाहिए।

बाल 'मल' अथवा अस्थि और मज्जा का चयापचयी अंतिमोत्पाद है। इस प्रकार, यदि आहार 'अस्थि' का ठीक से पोषण नहीं करता तो बालों की गुणवत्ता प्रभावित होती है। इसी प्रकार तनाव अथवा चिंता से भी बाल अस्वस्थ होते हैं। अस्थि में प्रमुख रूप से पृथ्वी तत्व प्रधान होता है और यदि आहार में पृथ्वी तत्व कम है तो बालों को क्षति होती है। बहुत से आधुनिक शेम्पुओं में बालों की मजबूती के लिए केल्शियम अथवा सिलिका का इस्तेमाल होता है। आयुर्वेद में भी 'अजस्थि भस्म' के रूप में कार्बनिक केल्शियम का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार 'मृग-शृंग-भस्म' (हरिण के सींग का चूर्ण) केल्शियम का अच्छा स्रोत माना जाता है जो अस्थि और बालों को स्वस्थ रखता है।

बालों का रंग 'पित्त दोष' पर निर्भर करता है जो रक्त से अर्थात 'रंजक पित्त' से संबद्ध है। यदि 'रक्त' उत्तम किस्म का नहीं है तो 'पित्त' दूषित हो जाता है और बालों की गुणवत्ता प्रभावित होती है। इसी प्रकार आहार में शामिल अचार और पापड़, कच्चे आम, खटाई या नींबू जैसे खट्टे अथवा नमकीन पदार्थ

पित्त को अव्यवस्थित कर देते हैं जिससे बालों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा अनिद्रा भरी रातें, धूप में अधिक देर रहना, अथवा उग्र व्यवहार के कारण भी बाल अस्वस्थ होते हैं। रूसी और जूं जैसे स्थानीय कारण भी बालों को अस्वस्थ बनाते हैं। अच्छे और संपूर्ण आहार के साथ अच्छे साबुन और अच्छे शेम्पुओं (शिकाकाई युक्त) के प्रयोग से बालों को स्वस्थ रखा जा सकता है।

इस अध्याय में हमने यह देखा कि कुछ सामान्य रोगों का घर पर ही किस प्रकार उपचार किया जा सकता है। तरकीब यह है कि देसी दवा की सही पहचान होनी चाहिए और रोग का निदान ठीक होना चाहिए। इस बात को दोहरा देना भी शायद गलत नहीं होगा कि उपयुक्त समय पर चिकित्सकीय सलाह लेने का अपना ही महत्व है।

13

पंचकर्म

अभी हाल में, 'पंचकर्म' में लोगों की फिर से अभिरुचि पैदा हुई है। यदि पंचकर्म का अनुवाद करें तो कहा जायेगा 'पांच क्रियाविधियां'। ये मूलतः चिकित्सीय उपाय हैं जिनका उपयोग या तो रोगों की रोकथाम के लिए अथवा उनके उपचार के लिए किया जाता है। ये क्रियाविधियां विकृत 'दोष' के निमित्त हैं। यदि कोई दोष पर्यावरणी कारणों से अथवा आहारिक कारणों से गड़बड़ है तो उसे केवल आहार अथवा औषधियों की सहायता से सामान्य करना कठिन है। किसी भी स्थिति में आहार अथवा औषधियां अधिक समय ले सकती हैं।

पंचकर्म का मूल उद्देश्य एकत्रित हुए दोषों को निकालना है। वास्तविक पंचकर्म क्रियाविधियों के पूर्व और पश्चात विशिष्ट क्रियाविधियां अपनाई जाती हैं। पूर्व क्रियाविधियों को 'पूर्व कर्म' की संज्ञा दी गयी है जिनमें 'पाचन' (पचाना), 'स्नेहन' (चिकनाई प्रदान करना) और 'स्वेदन' (सिकाई) शामिल हैं। प्रत्येक पूर्व कर्म की अपनी विशेषताएं और लक्षण हैं। इस प्रकार, 'पाचन' आमाशय में मौजूद आंव को पचाने के लिए हिंग्वाष्टक, सोंठ या त्रिकटु जैसी औषधियों पर निर्भर है।

'स्नेहन' में काफी मात्रा में घी, तेल, वसा अथवा अस्थिमज्जा के कई दिनों तक उपयोग का प्रावधान है। सामान्यतः विकृत दोष (वात हो या कफ अथवा पित्त), आहारनली में जमा हो सकता है, फिर भोजन में अवशोषित होकर, ऊतकों के स्रोतों में 'रास्ता रोको' जैसी हरकतें करता हैं। स्नेहन के दौरान निर्धारित मात्रा में घी खाने से यह स्थूल हुए अपसामान्य दोषों के स्रोतों को खोलने में सहायक होता है। 'स्वेदन' में गर्म सिकाई का प्रावधान है। जिसने भी इसका अनुभव किया है वह इसकी पुष्टि करेगा कि गर्म सिकाई से तुरंत ऐसा अनुभव होता है कि व्यक्ति बिल्कुल ठीक है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि 'स्वेदन' पहले स्नेहन द्वारा की गई क्रिया की सहायता से स्रोतों को खोल देता है।

इसके बाद, 'शोधन' (निर्मल करना) की क्रियाविधि आती है। यह क्रियाविधि भी पांच प्रकार की हैं और पंचकर्म कहलाती हैं। जैसा कि हमने पहले देखा कि पंचकर्मों का उपयोग निरोधात्मक अथवा चिकित्सीय उपायों के रूप में होता है। यदि चिकित्सकीय उपयोग के लिए किया जाता है तो वर्ष में कभी भी अर्थात जब भी रोग व्याप्त हो, किया जा सकता है। किंतु यदि कोई व्यक्ति इनका उपयोग रोग निरोध के उद्देश्य से करना चाहता है अर्थात् किसी ऋतु विशेष में दोष द्वारा किए जाने वाले उपद्रव के कारण (जैसे वसंत ऋतु में) उभरने वाले रोग की रोकथाम करना चाहता है तो (दोष को सामान्य करने के लिए) निरोधात्मक 'वमन' विधि का प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में जब वात दोष अव्यवस्थित होता है तो हम वात दोष को सामान्य करने के लिए 'वस्ति' क्रिया कर सकते हैं और शरद ऋतु में 'पित्त' को सामान्य करने के लिए 'विरेचन' क्रिया की जा सकती है।

पंचकर्म चिकित्सा में पांच प्रकार की क्रियाविधियां शामिल हैं। ये क्रियाविधियां हैं—वमन (सायास उलटी करना), विरेचन (सायास दस्त होना), वस्ति (औषधियुक्त एनिमा), नस्य (उपचारात्मक तत्वों का नाक के जरिए उपयोग) तथा रक्तमोक्षण (रक्त निष्कासन)।

'वमन' क्रिया में कतिपय वमनकारी औषधियों का प्रयोग किया जाता है जिससे ऊपरी आहारनली को साफ करने के लिए जी मितलाकर उलटी होती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के शरीर में लगातार तरल पदार्थ की पूर्ति करते रहना चाहिए, अन्यथा व्यक्ति 'निर्जलन' का शिकार हो सकता है। यह विधि कफ दोष संबंधी रोगों के लिए उत्तम है। श्वसनिका दमा रोग की समय-समय पर इसी विधि द्वारा रोकथाम की जाती है।

'विरेचन' की विधि आहारनली के निचले भाग पर संकेंद्रित होती है और आंतों की सफाई के लिए इसमें रेचकों का उपयोग किया जाता है। मौजूदा पद्धति में, रोगी की शल्यचिकित्सा से पूर्व अथवा आंतों के भीतरी भाग की जांच के लिए आंतों की सफाई की जाती है। इस संदर्भ में, भाषा भिन्न होते हुए भी सिद्धांत समान है। यह विधि तीनों दोषों में सहायक होती है हालांकि अधिक लाभ पित्त और कफ दोष में मिलता है।

तीसरे प्रकार का 'पंचकर्म' वस्ति या एनिमा है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति में आंतों में से मल निकालने के लिए अथवा ऐसी औषधियों के प्रयोग हेतु जो खाई नहीं जा सकतीं एनिमा का उपयोग किया जाता है। मलाशय की भीतरी सतह अत्यंत भेद्य है और यहां पर पहुंची औषधि बिना यकृत में गए सीधे ही रक्तसंचार में आ जाती है। दूसरी ओर, आयुर्वेद अनेक लक्षणों के लिए चिकित्सा

के रूप में 'वस्ति' का प्रावधान करता है। इसमें पौषणिक वस्तियों, निष्क्रमणात्मक वस्तियों, पाचक वस्तियों, रसायन एवं स्वास्थ्यवर्धक वस्तियों तथा कायाकल्प वस्तियों की व्याख्या है। सामान्यतः ये वस्तियां 'वात दोष' को उत्तम ढंग से नियंत्रित करते हुए सामान्य बनाती हैं।

'नस्य' की चिकित्सीय क्रियाविधि हंसुली से ऊपर के रोगों के लिए होती है। उदाहरण के लिए अधसीसी (माइग्रेन) दर्द के उपचार के लिए अंतर्नासिकीय रूप से घी प्रयोग किया जाता है।

हृदय की गति रुक जाने तथा स्फीत शिराओं की स्थिति को ठीक करने हेतु आयुर्वेद द्वारा रक्तमोक्षण चिकित्सीय विधि की सिफारिश की जाती है। आयुर्वेद शिरा-संकुलन को कम करने के लिए एक दिन छोड़कर जोंक लगवाने की सिफारिश करता है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति स्फीत स्थितियों अथवा बड़ी प्लास्टिक शल्यचिकित्सा के पश्चात फ्लैप में शिरा संकुलन से मुक्ति के लिए जौंक का प्रयोग करने लगी है।

ऐसा समझा जाता है कि पंचकर्म के पश्चात 'अग्नि' अपनी उत्तम अवस्था में नहीं होती। अतः उसे उद्दीप्त करने के लिए बाद में अनेक उपाय अपनाने होते हैं। चिकित्सा के बाद प्रथम सात दिनों में, मंदाग्नि को सामान्य स्थिति में लाने हेतु आहार में शनैः शनैः वृद्धि की जाती है। विशेष रूप से वमन, विरेचन और वस्ति के बाद ऐसा करना आवश्यक होता है। अतः पहले, आहार में तरल पदार्थ दिए जाते हैं, उसके बाद अर्ध ठोस पदार्थ दिए जाते हैं और अंत में सात दिनों के बाद ठोस खाद्य पदार्थ दिए जाते हैं।

रसायनचिकित्सा स्वास्थ्य को बनाए रखने, जीवन स्तर को सुधारने तथा व्यक्ति की आयुवृद्धि के लिए की जाती है। अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए पंचकर्म चिकित्सा, रसायनचिकित्सा से पूर्व की जानी चाहिए। वस्तुतः पंचकर्म के बाद रसायनचिकित्सा करने से शरीर इतना शक्तिशाली हो जाता है कि उस पर किसी विषाणु अथवा जीवाणु का असर नहीं होता है।

पंचकर्म के पश्चात की जाने वाली अंतिम क्रियाविधि 'शमन' चिकित्सा कहलाती है। इसमें दमा जैसे रोगों के लक्षणों से राहत पाने हेतु औषधियां शामिल हैं।

पंचकर्म के विषय में स्मरण रखने योग्य एक बात यह है कि इसे प्रशिक्षित चिकित्सक की देखरेख में किया जाना चाहिए, पूर्व क्रियाविधि उपाय अनिवार्य होते हैं तथा उत्तर पंचकर्म परिचर्या भी इतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है।

इस संक्षिप्त विवरण में हमें न केवल 'पंचकर्म' के मूल्यों को समझने में सहायता मिलती है बल्कि हम इस बात को भी समझ पाते हैं कि पंचकर्म को हल्के ढंग से नहीं लिया जाना चाहिए।

14

और अंत में…

"मेरे मित्र की मां गुर्दे के कैंसर से पीड़ित हैं। वस्तुतः यह उनके रोग की पुनरावृत्ति है। लगभग तीन वर्ष पहले उनका आपरेशन हुआ था। शरीर के व्यापक हिस्से में रोग-व्याप्ति उन्हें अधिक से अधिक चार महीने का समय दिया गया है। मुझे बताइए, क्या ऐसे में आयुर्वेद कुछ कर सकता है ?"

इस कहानी को लेकर, आयुर्वेद के रहस्यों को खोजने के लिए हमने और आपने अपनी यात्रा साथ-साथ प्रारंभ की। इस यात्रा की समाप्ति पर अब आप क्या महसूस करते हैं ? क्या आपके मन में इस तथ्य के प्रति प्रशंसा का भाव नहीं जगा कि प्राचीन विवेकयुक्त आयुर्वेद में भी कुछ सच्चाई है ? कदाचित अब आप भी इस बात को मानते हैं कि जो कुछ हमने विरासत में सीखा है उसे मिल-जुलकर फिर से सीखें और अमल में लायें।

अंतिम विकल्प के रूप में आयुर्वेद का मुंह देखने का कोई औचित्य नहीं है। कुछ रोग ऐसे हैं जिनका उपचार दोनों चिकित्सा प्रणालियों में निहित विवेक सम्मत ज्ञान का अधिकतम उपयोग करके किया जा सकता है। आयुर्वेद और ऐलोपैथी के चिकित्सकों द्वारा परस्पर मैत्रीपूर्ण और सहयोग का रवैया अपनाए जाने पर, दोनों प्रणालियों का अधिकतम लाभ लेने के प्रति रोगियों का मनोबल भी निश्चित रूप से बढ़ेगा। इसके अलावा यदि हम अंतिम समाधान के रूप में आयुर्वेद की शरण लेते हैं तो इसका यह अर्थ है कि हम आयुर्वेद को कोई मौका नहीं दे रहे हैं।

यह आवश्यक है कि हम चिकित्सा प्रणाली की इन दोनों धाराओं के बीच का मार्ग अपनाएं। हम ऐलोपैथी के महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकते और न हम ऐलोपैथी के क्षेत्र में हुई तकनीकी प्रगति से पलायन कर सकते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद में अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहित करने तथा ऐलोपैथी चिकित्साविज्ञान

के अध्ययनरत छात्रों के सम्मुख आयुर्वेद के विवेकसम्मत ज्ञान को उद्भासित करके हम दोनों चिकित्सा प्रणालियों को जैसे परिणय-सूत्र में बांध सकते हैं। चीन और जापान में वहां की सरकारों ने चिकित्सा की अपनी परंपरागत प्रणालियों के विकास हेतु सक्रिय रूप से प्रोत्साहन दिया है और इस प्रकार पारंपरिक चिकित्साविज्ञान के विकास और जनता द्वारा इसे स्वीकार किए जाने का मार्ग प्रशस्त किया है। हम भी ऐसी ही उम्मीद कर सकते हैं। अब तक हमने जो कुछ पढ़ा है उसके आधार पर हम इस बात से सहमत होंगे कि आयुर्वेद के वृहद जड़ी-बूड़ी भंडार/भेषज-संग्रह से युक्त शरीर-सरंचना, आहार, क्रमिक जीवविज्ञान (शरीर पर ऋतुओं का प्रभाव) तथा चिकित्सा पद्धति की व्यष्टिकरण जैसी संकल्पनाएं आदर्श एवं अनुकरणीय हैं। हम इनमें से कुछ को अपने जीवन में अपना सकते हैं और स्वस्थ जीवन जी सकते हैं।

हमें आशा है कि हम आपके मन में आयुर्वेद के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने में सफल हुए हैं और साथ ही आपको इस दृष्टि से आश्वस्त करने में भी सफल हुए हैं कि आयुर्वेद निश्चित ही 'लोक चिकित्सा प्रणाली' मात्र नहीं है अथवा ऐसी कोई विधि नहीं है कि जब सब तरफ से असफल हो जायें तो आयुर्वेद की ओर मुखातिब हों। हमारा इस पुस्तक को लिखने का प्रयोजन तभी सार्थक होगा जब आप अपनी जीवनशैली में अधिक परिवर्तन किए बिना आयुर्वेद के कुछ सिद्धांत अपने जीवन में समाहित कर लेंगे, ताकि अच्छे स्वास्थ्य की स्थिति प्राप्त की जा सके।

हम आशा करते हैं कि आपने हमारे साथ जो यात्रा की है उसमें हम मानव शरीर के कतिपय रहस्यों को उद्घाटित कर सके और वह भी इस ढंग से कि उनका आनंद भी लिया जा सके।